श्रीः ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलरहस्य ।

श्रीमहामण्डलके शास्त्रप्रकाश
विभाग द्वारा प्रकाशित ।

द्वितीयावृत्ति ।

श्रीकाशीधाम ।

कलेर्गताब्दाः ५०११ ।

1910.

मूल्य १) रु० । डाकखः

ॐतत्सत् ।

समर्पण ।

अविनयमपनय विष्णो
    दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय
    तारय संसारसागरतः ॥

ग्रन्थकारकी आज्ञाके अनुसार मैं यह ग्रन्थरत्न श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके श्रद्धास्पद संरक्षक महोदय, माननीय प्रतिनिधि महाशय, वन्दनीय व्यवस्थापक महोदय, श्लाघनीय सहायक महाशय और प्रशंसनीय साधारण सभ्य महोदय तथा सनातनधर्म्मानुरागी धर्म्मसभाओंके सभ्य महाशय और सर्वधर्म्मप्रेमी सज्जनोंको अर्पण कर आशा करता हूं कि सब महाशय इस ग्रन्थरत्न द्वारा अपने जीवनके प्रधान कर्तव्यसाधनमें विशेष लाभ उठावेंगे ।

इस ग्रन्थरत्नके पाठ करनेसे कोइ महाशय ऐसा न समझें कि यह ग्रन्थ महामण्डलका अनुशासनग्रन्थ है; वास्तवमें इस ग्रन्थरत्नके प्रकाशित करनेका प्रथम उद्देश्य यह है कि जिन्होंने असाधारण यत्न द्वारा भारतवर्षकी अनेकानेक धर्म्मसभाओंके सम्मेलनसे इस नियमबद्ध विराट् सभाकी स्थापना की है उनका आन्तरिक तात्पर्य विदित हो। दूसरा उद्देश्य यह

है कि जिन्होंने आर्यजातिके कल्याणार्थ और सनातन-धर्म्मके पुनरभ्युदयके लिये वहुत कुछ चिन्ता की है उनकी चिन्ताका यथासम्भव लाभ श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके सभ्य महोदयगण और विशेषतः कार्य्यकर्त्ता-गण उठा सकें। और तीसरा उद्देश्य यह है कि इस ग्रन्थरत्नकी शिक्षा और प्रचार द्वारा आर्य्यजातिको धर्म्म और कर्तव्यके ज्ञानमें कुछ लाभ हो।

यदि किसी सज्जनको इस ग्रन्थके अन्तर्गत किसी विषय पर कुछ मतभेद हो तो वे उसको व्यक्तिगत मत समझें, यही प्रार्थना है।

इस ग्रन्थरत्नके अनुवाद संस्कृत, उर्दू, गुजराती, मरहटी, आदि भाषाओंमें प्रस्तुत हैं शीघ्रही प्रकाशित होनेकी सम्भावना है। इसका वंगला अनुवाद छप चुका है।

निवेदक,

महाराजनारायण शिवपुरी

रायबहादुर

प्रधानाध्यक्ष श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल

प्रधानकार्य्यालय

काशी।

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल[1]रहस्य ।

प्रथम अध्याय ।

आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन ।

सकलजीवत्रितापहारी, पूर्णशक्तिधारी, सर्वलोकहितकारी, भक्तमनोमन्दिरविहारी, सच्चिदानन्दमय श्रीहरिके चरणकमलोंमें बारबार प्रणाम ।

---

१ इस नामका स्वरूप तथा सनातनधर्म्मके महत्वके कुछ प्रमाण दिये जाते हैं। श्रीशब्द मङ्गलवाचक है। मङ्गलाचरणकी रीति प्राचीन सदाचारानुकूल है। भारतके परिमाणके श्लोक यथा—

"ब्रह्मपुत्र इति ख्यातो नदः स्रोतस्विनीपतिः ।
प्राच्यां यस्य वहत्यास्ते वीचिमालासमाकुलः ॥
प्रतीच्यां च नदीनाथः सिन्धुः शाखागणैः सह ।
वहति प्रोच्छलद्वीचिरार्द्रयन् सततं स्थलीम् ॥
उत्तरां शोभयन्नाशां नगराजो हिमालयः ।
दैवीं मूर्तिं समालम्ब्य स्थितो गौरीगुरुर्गिरिः ॥
दक्षिणां दिशमालम्ब्य वीचिभिस्ताडयन् तटम् ।
राजते लवणाम्भोधिर्दुर्द्धर्षो लोकदुस्तरः ॥

श्रीभगवान्के सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकारी भावके सदृश सनातनधर्म्म भी सार्व्वभौमलक्ष्ययुक्त एवं सर्वप्रजाहितकर है। ऐसे सनातनधर्मकी सदा जय हो।

सोऽयं विस्तीर्णभूभागो नानारत्नविशोभितः ।
नानावृक्षलतापूर्णो नानागिरिनदीयुतः ॥
नानापशुगणैर्जुष्टो नानापक्षिनिषेवितः ।
आर्य्याणां पुण्यभूमिः सा भारतं वर्षमुच्यते" ॥

सनातनधर्म्मके लक्षणके विषयमें स्मृत्यादिकथित लक्षण ये हैं यथा-

"वेदप्रणिहितं कर्म्म धर्म्मस्तन्मङ्गलं परम् ।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म्म उच्यते ॥
प्राप्नुवन्ति यतः स्वर्गमोक्षौ धर्म्मपरायणे ।
मानवा मुनिभिर्नूनं स धर्म्म इति कथ्यते ॥
सत्त्ववृद्धिकरो योऽत्र पुरुषार्थोऽस्ति केवलः ।
धर्म्मशीले तमेवाहुर्धर्म्मं केचिन्महर्षयः ॥
या बिभर्ति जगत्सर्व्वमीश्वरेच्छा ह्यलौकिकी ।
सैव धर्म्मो हि सुभगे नेह कश्चन संशयः ॥
उन्नतिं निखिला जीवा धर्म्मेणैव क्रमादिह ।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम्" ॥

महामण्डल शब्दका तात्पर्य्य महासभासे है। सनातनधर्म्म सम्बन्धी जहां कहीं जो कुछ व्यष्टिरूपसे सभा धर्म्मालय आदिका पुरुषार्थ हो रहा है सबका समष्टिरूपी विराट्धर्मसभा यह महामण्डल है।

सनातन धर्म्मके महत्वके विषयमें प्रमाण यथा–

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं सधर्म्म इति निश्चयः ॥

आर्य्यजाति ही पृथ्वीमें आदिमनुष्य, आदिशिक्षित, आदिसभ्य, आदिशिल्पी, आदिकवि, आदिज्ञानी, आदि-विज्ञानवित्, आदिधार्म्मिक, आदियोगी, आदिमननशील, आदिभगवद्भक्त और आदिगुरु है। आर्य्यजातिकी पवित्र भारतभूमिमें अनादिकालसे अपौरुषेय वेद ज्ञानज्योति प्रकाश कर रहे हैं। इस पूर्णप्रकृतियुक्त पवित्रक्षेत्रमें अनादि कालसे अभ्रान्त आर्षदर्शनशास्त्रसमूह ज्ञान विज्ञानपथप्रदर्शक हो रहे हैं। इसी एकमात्र कर्म्मभूमिमें ध्रुव, प्रह्लाद आदि बालक जन्मे हैं। इसी पवित्र भूखण्डमें सीता, सावित्री आदि कुलकामिनियाँ उत्पन्न हुई हैं। इसी स्वर्गीय स्थानमें श्रीजनक से गृहस्थ और श्रीभगवान् रामचन्द्र से राजाओंने उत्पन्न होकर मनुष्यसमाज व देशकी रक्षा की है। इसी धर्म्मक्षेत्रमें श्रीभीष्मदेवकी न्याईं पितृभक्त, पाण्डवगणकी न्याईं मातृभक्त, श्रीलक्ष्मणकी न्याईं भ्रातृ-भक्त, श्रीहरिश्चन्द्रकी न्याईं सत्यपरायण और श्रीयुधिष्ठिर की न्याईं धर्म्मपालक जन्मे थे। यह पुण्यभूमि ही श्रीनारद-सदृश भक्तचूडामणिकी लीलाभूमि है; इसभूमिमें ही श्रीविश्वामित्र जैसे तपस्वी और श्रीभीम अर्जुन जैसे वीरगण जन्मे थे। इसी ईश्वरकी प्रधानलीलाभूमिमें श्री वेदव्यास और श्रीवाल्मीकि से ग्रन्थरचयिता, श्रीमनु और

धर्म्मं यो बाधते धर्म्मो न स धर्म्मः कुधर्म्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्म्मः सधर्म्मोमुनिपुङ्गव"॥ इति स्मृतिः॥
"धर्म्मोविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्म्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्म्मेण पापमपनुदति धर्म्मे सर्व्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति"॥ इति श्रुतिः॥

श्रीयाज्ञवल्क्य से वक्ता, श्रीकृष्ण और श्रीवसिष्ठ से उपदेशक, श्रीकपिलदेव से सिद्ध और श्रीशुकदेव से ज्ञानीगणोंका आविर्भाव हुआ है। भारतवर्ष स्वभावसिद्ध धर्म्मभूमि है।

जब तक इस भारतभूमिमें पूज्यपाद त्रिकालदर्शी आर्य्यऋषिगणका प्रकाश रहा तब तक इस पवित्र धर्म्ममार्गमें किसी प्रकारका परिवर्त्तन नहीं दिखाई दिया; विचारनेसे यही प्रतीत होता है कि जब तक उन विभूतियुक्त पुरुषोंका आविर्भाव इस भूमि पर बना रहा तब तक स्थूलातिस्थूल विचारसे लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारके अधिकारी भारतवर्षमें रहे। पर उनमें विरोध कभी नहीं दिखाई पड़ा। उन महात्माओंकी कृपासे यह भारतभूमि साक्षात् धर्म्मभूमि बनी रही और सब अधिकारीगण क्रमशः अपने अधिकारके अनुसार साधन करते हुए श्रेष्ठदशाको प्राप्त होते थे। राजासे लेकर निम्न प्रजा किरात तक धर्म्मके अवतार ऋषिगणकी आज्ञा और शासनके आधीन रहकर अपना अपना धर्म्म पालन करते रहे। यदिच सबका अधिकार स्वतन्त्र रहा परन्तु सनातनधर्म्मकी सार्व्वभौम और सर्वजीवहितकरी दृष्टिसे सब एक ही बने रहे। एकमात्र अभ्रान्त सनातनधर्म्मने ही पृथिवीको पूर्णरूपसे आलोकित किया।

पश्चात् जब कलियुगका प्रारम्भ होने लगा, धर्म्मकी हानि और घरका विरोध आरम्भ हुआ, राजागण धर्म्ममर्य्यादाको छोड़ ऋषिगणकी अवहेलाकर विपथगामी हो गये, क्रमशः एकताबन्धनको छिन्नकर छोटे छोटे अगणित रजवाड़ोंमें बंट गये और परस्परमें विरोध करके श्वान-

वृत्तिका परिचय देने लगे, तब ही पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दकी इच्छासे महाभारतका महायुद्ध हुआ। कलिकाल तमःप्रधान काल है, उस समय जिस प्रबलवेगसे अज्ञानरूपी वारिददलके द्वारा भारत आकाश आच्छन्न होने लगा था यदि उस समय इस महायुद्धके द्वारा तामसिकशक्तियोंका ह्रास न किया जाता तो भारतवर्षकी विपत्तिकी पराकाष्ठा होती। यदि गीता-विज्ञानद्वारा वह तमसाच्छन्न आकाश आलोकित नहीं होता तो दाम्भिक नरपतिगणके अत्याचारसे आर्य्य-जातिका आर्य्यत्व एकबार ही लुप्त हो जाता। भारतवर्ष और आर्य्यजातिके लिये वह समय अत्यन्त विपज्जनक था, इसीकारण उस घोर दुःखसे त्राण करनेके लिये श्रीभगवान्को पूर्णावताररूपसे आविर्भूत होना पड़ा था। श्रीभगवान् कृपासागर हैं; उनकी कृपासे इस कुरुक्षेत्रके महायुद्धके उपरान्त भारतवर्षमें ऐक्य और शांति स्थापित हुई। कई सौ वर्ष तक शांतिप्रिय आर्य्यजातिको पुनः शांति मिली; पूज्यपाद महर्षिगणके अन्तिम समयमें उनको श्रीभगवान्की अपार करुणासे कुछ सुख मिला। परन्तु काल दुरत्यय है। कलिकालकी कराल गतिसे पुनः आर्य्यजातिमें प्रमाद बढ़ने लगा। क्रमशः पूज्यपाद महर्षिगणका तिरोभाव होनेलगा और धर्म्मविप्लवका सूत्रपात हुआ।

अविद्या बढ़नेसे प्रजाकी धर्म्मशिक्षा जितनी न्यून होती रही उतना ही प्रजागण सनातन धर्म्मोके सार्व्वभौम भाव भूलते रहे और क्रमशः आपसमें विरोध

बढ़ता रहा और सम्प्रदायसमूह अपना अपना लक्ष्य छोड़ धर्म्मसे ही अधर्म्मकी उत्पत्ति करने लगे। उसी समय जीवोंकी दुर्गति देख उनकी गति फेरकर मुक्तिका पथ दिखाने और सांसारिक सुखको भुलानेके लिये दयाके अवतार श्रीभगवान् बुद्धदेवका आविर्भाव हुआ। उनकी कृपासे बहुत जीवोंका कल्याण हुआ। कर्म्म, उपासना और ज्ञान तीनोंकी समता ही सनातन धर्म्मका रहस्य है। उस अज्ञानके समयमें प्रजागणमेंसे उपासना-काण्ड और ज्ञानकाण्डका एकबार ही लोप होकर कर्म्मकाण्डकी रुचि इतनी बढ़ गई थी कि क्रमशः आर्य्य-प्रजा वैदिक कर्म्मकाण्डके रहस्यको भूलकर केवल ताम-सिक कर्म्मोंकी पक्षपातिनी हो गई थी। अपिच कर्म्म-काण्डके नामसे बड़े बड़े अत्याचारोंसे देश दग्ध होने-लगा था। कठिन पीड़ाके समय जिस प्रकार विषप्रयोग की आवश्यकता होती है; उसी प्रकार उस घोर प्रमादके समयमें अधिदैवभावरहित ज्ञानविस्तारका प्रयोजन होनेसे श्रीबुद्धभगवान्के प्रकट होनेकी आवश्यकता हुई थी। चाहे उस समयकी प्रजाके लिये उनका उपदेश हित-कारी ही हुआ था परन्तु वैदिक मार्गके अधिकारी आर्य्य प्रजाका उस उपदेशसे स्थायी कल्याण नहीं होसका; विशेषतः वे अपने दयाभावमें ऐसे लवलीन थे कि उपदेश द्वारा उन्होंने सब कुछ किया पर कोई ग्रन्थप्रणयन न कर गये। इस कारण बुद्धप्रभुके तिरोभावके अनन्तर बौद्धधर्म्मावलम्बी प्रचारकोंने इस धर्म्मको जिसने जैसा चाहा वैसा ही गढ़ डाला, क्रमशः आत्मोद्धार के लक्ष्य को छोड़ इस धर्म्ममें बहिर्लक्ष्य इतना बढ़ गया कि यह

भारतवर्षकी घोर आपत्तिका कारण होगया और पुनः अपने ही दोषोंके कारण अपनी जन्मभूमि भारतभूमिसे विदा होकर अन्य अनार्य्य देशोंमें जा रहा। बौद्धधर्म्मके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर आर्य्यगणने पुनः मस्तक उठाया, उसी समय दार्शनिकशिरोमणि कुमारिलभट्ट आदि ऋषितुल्य आचार्य्योंका जन्महोनेसे बौद्धधर्म्म हीनबल होने लगा। तब सुअवसर जान श्रीभगवान् शंकराचार्य प्रकट भये, और अपनी पूर्व्वलीलामें जो जो अभाव रक्खे थे उनको पूर्ण कर दिया।

प्रभुके आविर्भावसे भारतको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ; काल सर्वगुणसम्पन्न हो उठा; ग्रह नक्षत्र सकल प्रसन्न हुए; दिग्मण्डल निर्मल हुए; आकाशमें तारकसमूह पूर्ण स्वच्छता को प्राप्त होकर देदीप्यमान हो गये; सकल नदी प्रसन्नसलिला हो बहीं; कमलसमूह प्रस्फुटित होकर ह्रदोंकी शोभा बढ़ाने लगे; बनों उपवनोंके वृक्ष, लता, गुल्म और औषधि समूह पूर्णताको प्राप्त होकर पुष्प और फलोंसे सुशोभित हुए; उनमें विहङ्गमकुल गान करके नाचने लगे; वायु शीतल मन्द सुगन्ध होकर बहने लगा; द्विज गणकी अग्नि शान्त रूपसे प्रज्वलित हुई; साधुगणका हृदय पूर्ण आनन्दको प्राप्त हुआ; प्रभु शङ्कराचार्यजीके आविर्भावसे भारतकी प्रकृति इस भांति पूर्णसौन्दर्यको प्राप्त हुई। बाल्यावस्थामें ही अद्भुत वैराग्यका परिचय दे, सन्यास धारण कर भारत के कल्याणार्थ घरसे निकले; क्रमशः थोड़े ही दिनोंमें प्रभुने अपनी ऐसी विभूतियों को प्रकाशित कर अद्वैत वैदिकमार्गको पुनः स्थापित किया

हिमालयसे लेकर भारत समुद्र तक और पश्चिम समुद्र से लेकर पूर्व्व समुद्र तक समस्त भारतभूमिके प्रजासमूह को अपने अधीन कर वैदिकमार्गमें प्रवृत्त किया और भविष्यत् में धर्म्ममर्य्यादाको पूर्ण रखनेके अभिलाषसे भारतकी चारों दिशाओंमें चार मठ स्थापित कर दिये। पूर्वके महातीर्थ जगन्नाथ पुरीमें गोवर्द्धनमठ, पश्चिमकी द्वारकापुरीमें शारदामठ, दक्षिणप्रदेशमें श्रृंगेरीमठ और उत्तरमें हिमालयके पवित्र प्रदेशान्तर्गत वदरिकाश्रममें जोषीमठ स्थापित किये। वर्त्तमान पाश्चात्य शक्ति एवं सभ्य जातियें जिस नियमित अनुशासन व्यवस्था प्रणाली (Organization) के प्रभावसे इस समय जगन्मान्य हो उठी हैं श्रीभगवान् श्रीशङ्कराचार्य्य प्रभुने उसी स्वजातीय नियमित व्यवस्थाप्रणालीका पुनरुद्धार करके एक नूतन आदर्श स्थापित किया था। इन मठोंमें समस्त भारतवर्ष पर शासन करनेके अर्थ चार आचार्य्यों को स्थित किया और भारतवर्षको चार विभागोंमें विभक्त कर चारोंको सौंप दिया। भारतमें तव पूर्णशान्ति विराजने लगी।

प्रभु शङ्कराचार्य्यजीने भारतवासियों पर कृपावश हो जिस शक्तिका प्रयोग कियाथा उसके वलसे भारतवर्षमें बहुत दिनों तक शांति विराजमान रही। पुनः काल माहात्म्यके कारण शिथिल हो गई; फिर धर्म्मकी हानि हुई; फिर सनातनधर्म्मके सार्वभौम और सर्वजीव-हितकारी भावको प्रजा भूल गई; फिर घरके कलहकी अग्निसे भारत दग्ध होने लगा; उसी समय हमारी मूर्खतासे यवन राजाओंके पैर इस पवित्रभूमिमें जमे। देखते देखते यवन

राजाओंने आकर आर्य्यराजाओंको दबा लिया और बलप्रयोगसे धर्म्मकी मर्य्यादाको बहुत ही शिथिल कर दिया। तब यद्यपि भारत यवन राजाओंके ही शासनाधीन रहा, परन्तु धर्म्मप्राण हिन्दूजाति कब धर्म्म विना जीवित रह सक्ती है? जब यवनोंका अत्याचार पूर्णरूपसे बढ़ गया था, उस समय करुणानिधिकी कृपादृष्टि दीन भारतवासियों पर पड़ी, तब ही वैष्णवधर्म्मका आविर्भाव हुआ। विशिष्टाद्वैतमतप्रवर्त्तक पूजनीय श्रीरामानुजाचार्य्य, शुद्धाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक श्रद्धास्पद श्रीविष्णुस्वामी तथा श्रद्धास्पद श्रीवल्लभाचार्य्य, द्वैताद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक माननीय श्रीनिम्बार्काचार्य्य, द्वैतमतप्रवर्त्तक आराध्य श्रीमाध्वाचार्य्य तथा यतिवर श्रीचैतन्याचार्य्य प्रभृति साम्प्रदायिक आचार्य्यगणने प्रकट होकर सनातनधर्म्मकी गिरती हुई दशासे उसको बचाया और उस समयकी आर्य्यप्रजाके शुष्क हृदयों पर भक्तिवारि सिञ्चन कर उनको प्रफुल्लित किया। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि उस आपत्कालमें यदि इन साम्प्रदायिक आचार्य्यों का प्राकट्य न होता तो यवनशासक गणके द्वारा सनातनधर्म्मको बड़ी भारी हानि पहुंचती और आर्य्यप्रजा अपने स्वरूपको भूल जाती। इसी समयके धर्म्मसंस्थापकोंमें ऋषितुल्य श्रीमधुसूदनाचार्य्यजी, सिद्धवर श्रीनानकजी, भक्ताग्रगण्य श्रीतुलसीदासजी, कविवर श्रीसूरदासजी, यतिवर श्रीरामदासस्वामी आदि महात्मागणने धर्म्मकी रक्षा करनेमें पूर्ण सहायता की। राजा यवन रहने पर भी एकबार समस्त-

भारतवर्षमें धर्म्मप्रवाह बहने लगा और उससे मलिनता बहुत कुछ धुलकर सनातनधर्म्मकी श्रेष्ठता स्थापित हुई, और उसी स्रोतसे बहुत जीवोंका कल्याण हुआ।

इस संसारमें सब पदार्थ ही परिवर्त्तन नियमके आधीन हैं; उसी नियमके कारण यवन राज्य भी नाशको प्राप्त हुआ। जब यवन राजाओंने एकबार ही राजधर्म्म छोड़ दिया और घोर अत्याचार पर कमर कस सनातनधर्म्मके नाश करनेमें प्रवृत्त हुए तो पुनः एकबार हिन्दुओंकी निद्रा भङ्ग हुई और मरहठा और सिक्ख राज्य स्थापित हुआ परन्तु अधर्म्मके द्वारा धर्म्म की रक्षा नहीं होसकती, हिन्दुओंको दासत्व करते हुए बहुत काल बीत गया था, वे राजधर्म्मकी रक्षा न करसके; तब ईसाई-धर्म्मावलम्बी अंग्रेजराजाने भारतसाम्राज्य पर अधिकार किया तो प्रजा निश्चिन्त हुई। किन्तु आधुनिक धर्म्मोंमें सार्व्वभौम लक्ष्य कहां? ईसाई धर्म्मप्रचारकों द्वारा पुनः हिन्दूधर्म्मके हृदय पर बहुत ही धक्के लगे, तो पुनः तमोगुण प्राप्त हुए सनातनधर्म्मने करवट ली। क्योंकि वर्त्तमान सम्राट्की राजधानी बङ्ग-देशमें ही है और पश्चिमी विद्याका प्रचार सर्वप्रथम वहीं हुआ था; इस कारण सनातनधर्म्मका वर्त्तमान परिवर्त्तन भी वहींसे आरंभ हुआ। जब सनातनधर्म्मियोंको प्रतीत हुआ कि हम पूर्णबलशाली होने पर भी केवल अपनी ही उपेक्षासे अपनी ही दुर्गति कर रहे हैं तब प्रसिद्ध विद्वान् राजा राममोहनरायजी ने ईसाई प्रचारकों के आक्रमणसे इस देशको बचानेके अभिप्रायसे कटि कसी। अपने तमोगुणी भ्रातृगणको यह भलीभांति

समझा दिया कि "तुम्हारे सनातनधर्म्ममें क्या न
तुम्हारे धर्म्ममें भी एक ब्रह्मकी उपासना है; सूक्ष्म
तुम्हारे धर्म्ममें भी जातिभेद नहीं है, तो बताओ
अभिप्रायसे तुम ईसाई बनोगे"। पुनः वह स्रोत भा
पश्चिमोत्तर प्रदेशमें आपहुंचा तब इस प्रदेशमें भी र
आवश्यकता हुई तब ही मौनव्रतधारी सन्न्यासी
नन्दसरस्वतीजी अपना व्रत त्याग इस प्रदेशमें उस
धर्म्मके स्रोतको रोकनेमें प्रवृत्त हुए। स्वामीजीने
अंशमात्रको मुख्य रखकर समय कालीन ऐसे २
प्रकट किये कि जिससे भ्रान्त भारतवासियोंके चित्त
गये। धर्म्मप्राण भारतवासियोंकी भक्ति चिरकाल
सन्न्यासियों पर है, पुनः जब उन्होंने यह देखा कि
रुचिके अनुसार धर्म्ममार्ग भी उनको मिल रहा
देखते देखते बहुतसे आर्य्यगण उनके अधीन हो
परिणाम चाहे कुछ ही हो, परन्तु इस बात को
ही स्वीकार करना होगा कि पंडितवर राजा राममो
रायजीका प्रतिष्ठित ब्रह्मसमाज और यतिवर स
दयानन्दसरस्वतीजीका प्रतिष्ठित आर्य्यसमाज इन
मतोंसे सनातनधर्म्मको उसके आपत्कालमें बहुत ही
यता मिली। यदि उस समय ये दोनों सम्प्रदाय न
तो आज दिन सहस्रों असहाय आर्य्यगण ईसाई ध
अधीन दिखाई पड़ते, सहस्रों नर नारी बिना कार
भूलभुलैयामें पड़जाते।

क्रमशः जब ब्रह्मसमाजकी बहिर्दृष्टि बहुत ही
लगी, और सनातनधर्म्मका मूलोच्छेदन करना ही

लक्ष्य होगया, और इधर आर्य्यसमाजने भी अपना कर्त्तव्य भूलकर सनातनधर्म्मप्रवर्त्तक ब्राह्मणगण और उनके प्रिय शास्त्र पुराणादिकी निन्दा करनेमें पक्ष कर लिया तो इससे भारतवासियोंके आचारव्यवहारमें बहुत फेर पड़ने लगा, तब उनके हृदयमें कुछ धक्के लगे तो पुनः वे चौंक उठे। तब पारस्परिक ऐक्य स्थापन करके निज धर्म्मकी सम्मान रक्षा करनेके अभिप्रायसे देश देश, ग्राम ग्राम, नगर नगरमें धर्म्मसभा, हरिसभा, धर्म्ममण्डली, धर्म्ममहामण्डल और धर्म्मपरिषद् आदि धर्म्मोद्धारक सभाएं स्थापित करके सनातनधर्म्म-मर्य्यादा पुनः संस्थापन करनेमें कटिबद्ध हुए। धर्म्मप्रवाह बहने लगा। उस प्रवाहमें भारतके पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारों, दिशाओंमें निद्रासे जागे हुए ब्राह्मणसन्तानोंने पुनः परिदर्शक और उत्साहदाताओंके पदको ग्रहण किया- जिनकी तेजस्विनी वक्तृताओं द्वारा घोरतमाच्छन्न भारत" वासी पुनः करवट लेनेकी चेष्टा करते दिखाई पड़े। सनातनधर्म्मके धर्म्माचार्य्य, संस्कृत अध्यापक और सद्वक्ता ब्राह्मणगण आदि सब सम्प्रदायके व्यक्तियोंमें धर्म्मके नवोत्साहका प्रवाह दिखाई दिया। कार्य्य भी बहुत कुछ हुआ। धर्म्मप्रवाह बहता ही रहा। नाना प्रकारके धर्म्मसम्बन्धी सामयिकपत्र और पुस्तकादि प्रकाशित होने लगे। उस आध्यात्मिक प्रवाहका धक्का युरोप और आमेरिका तकमें जा लगा। जो ईसाई धर्म्मावलम्बी सनातनधर्म्मको अपनी बाल्यसुलभ चञ्चलताके कारण अज्ञानियोंका धर्म्म बताया करते थे उसी धर्म्मावलम्बी

अनुशासनकी अधीनता स्वीकार करना सबका कर्तव्य है; तामसिक राजसिक अथवा सात्विक अधिकारी सब को ही अपने अपने अधिकारानुसार अनुशासन की अधीनता स्वीकार करना उचित है। उसकी उपेक्षा करने पर पतन होना अवश्य सम्भावी है। शास्त्रानुशासन और आचार्य्यानुशासनकी अधीनता त्याग करनेके कारण ही जगद्गुरु आर्यजातिका आध्यात्मिक और राजनैतिक अधःपतन हुआ है। अज्ञानताकी वृद्धिके साथ ही साथ धर्म्म क्रियामें अधर्म्म और अधर्म्म क्रियामें धर्म्म बोध होनेके पापसे ही भारतवर्षमें बौद्ध विप्लव हुआ था। भारतवर्षमें विदेशीय जातिके साम्राज्य स्थापनके भी इस प्रकारसे बहुविध कारण हैं। आर्य्यजातिके कर्म पर संयम करनेसे उन सब कारणोंका अनुसन्धान हो सक्ता है। कह सक्ते हैं कि आर्य्यजातिकी स्वधर्मिविद्वेषवृत्तिके निराकरण करनेके अर्थ ही पृथिवीभरमें सबसे अधिक स्वधर्म्मिप्रेमी मुसलमान जातिके हाथमें भारतवर्ष समर्पित हुआ था। वर्णाश्रमधर्म्मका अनुशासन स्वधर्मिविद्वेष कदापि नहीं सिखाता है। परन्तु अज्ञानताके कारण आर्य्यजाति वर्णाश्रमधर्म्मके छलसे स्वधर्मिद्वेषी हो गई थी। मुसलमान साम्राज्य स्थापन होनेके जितने कारण थे उनमेंसे आर्य्यजातिका यह महापाप ही एक प्रधान कारण है। इसी प्रकारसे समझा जा सक्ता है कि आर्य्यजातिके स्वदेशिविद्वेषजनित पापके निराकरणके अर्थ ही पृथिवी भरमें आदर्श स्वदेशिप्रेमी अंग्रेजजातिके हाथ में आर्य्यजातिका अनुशासन भार

यत्नसे अंग्रेजीशिक्षित पुरुषोंके हृदयमें अध्यात्मविद्याकी श्रद्धा शीघ्रही उत्पन्न होने लगी* विशेषतः श्रीमती उसी जातिकी थीं कि जिसके द्वारा आर्य्यप्रजाकी श्रद्धाका नाश हुआ था इससे कारण जब उसी जातिकी एक असाधारण तेज और बुद्धि सम्पन्ना विदुषीके द्वारा अपने आर्य्यविज्ञानके अनुकूल उपदेश आर्य्यप्रजाको मिलने लगे तो तुरत ही वे अपने भूले हुए स्वरूपको जाननेमें समर्थ होने लगे। वास्तवमें श्रीमतीकी असाधारण शक्ति, प्रतिभा और पुरुषार्थके द्वारा तथा उनके शिष्यपरंपरा द्वारा इस समयके धर्म्म प्रवाहकी उन्नति करनेमें बहुत ही सहायता मिली, इसमें सन्देह नहीं। इसी समय योगिराज श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराजके असाधारण तेजसे तेजस्वी स्वदेशहितैषी महात्मा श्रीविवेकानन्दजी द्वारा श्रीरामकृष्णमिशन स्थापित हुआ और उक्त महात्माजीकी असाधारण वक्तृताशक्ति द्वारा अमेरिका और यूरोपके अधिवासियोंको यह भली-भांति परिज्ञात हो गया कि आध्यात्मिक उन्नतिके विचारसे और धर्मशिक्षाके लक्ष्यसे सदा सब कालमें भारतवर्ष ही जगद्गुरु हो सकता है।

---

* थियोसोफिकल सोसाइटीके प्रधान उद्देश्य तीन हैं, यथा-अध्यात्मशास्त्रका पठन पाठन करना, योगादि साधन करना और परस्परमें भ्रातृप्रेमस्थापन करना। इस महासभाकी शाखायें पृथिवीके सब देशोंमें हैं जिनकी संख्या सैकड़ों होगी। युरोप आदि सब देशोंमें स्वतन्त्र स्वतन्त्र कार्य्यालय हैं। समस्त पृथिवीभरका प्रधानकार्य्यालय मद्रासमें है और भारत विभागका प्रधान कार्य्यालय काशीमें है।

अनुशासनकी अधीनता स्वीकार करना सबका कर्तव्य है; तामसिक राजसिक अथवा सात्विक अधिकारी सब को ही अपने अपने अधिकारानुसार अनुशासन की अधीनता स्वीकार करना उचित है। उसकी उपेक्षा करने पर पतन होना अवश्य सम्भावी है। शास्त्रानुशासन और आचार्य्यानुशासनकी अधीनता त्याग करनेके कारण ही जगद्गुरु आर्यजातिका आध्यात्मिक और राजनैतिक अधःपतन हुआ है। अज्ञानताकी वृद्धिके साथ ही साथ धर्म्म क्रियामें अधर्म्म और अधर्म्म क्रियामें धर्म्म बोध होनेके पापसे ही भारतवर्षमें बौद्ध विप्लव हुआ था। भारतवर्षमें विदेशीय जातिके साम्राज्य स्थापनके भी इस प्रकारसे बहुविध कारण हैं। आर्य्यजातिके कर्म पर संयम करनेसे उन सब कारणोंका अनुसन्धान हो सक्ता है। कह सक्ते हैं कि आर्य्यजातिकी स्वधर्मिविद्वेषवृत्तिके निराकरण करनेके अर्थ ही पृथिवीभरमें सबसे अधिक स्वधर्म्मिप्रेमी मुसलमान जातिके हाथमें भारतवर्ष समर्पित हुआ था। वर्णाश्रमधर्म्मका अनुशासन स्वधर्मिविद्वेष कदापि नहीं सिखाता है। परन्तु अज्ञानताके कारण आर्य्यजाति वर्णाश्रमधर्म्मके छलसे स्वधर्मिविद्वेषी हो गई थी। मुसलमान साम्राज्य स्थापन होनेके जितने कारण थे उनमेंसे आर्य्यजातिका यह महापाप ही एक प्रधान कारण है। इसी प्रकारसे समझा जा सक्ता है कि आर्य्यजातिके स्वदेशीविद्वेषजनित पापके निराकरणके अर्थ ही पृथिवी भरमें आदर्श स्वदेशिप्रेमी अंग्रेजजातिके हाथ में आर्य्यजातिका अनुशासन भार

सौंपागया है। जो सनातनधर्म्म उदारताकी पराकाष्ठासे पूर्ण है उसी सनातनधर्म्मके छलसे जब अधःपतित आर्य्यजाति स्वदेशी होने पर भी हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, बङ्गाली, पंजाबी, और दक्षिण व उत्तरभारतीय, स्वदेशवासियों पर द्वेष उत्पन्न करनेवाले महापापमें लिप्त हुई तब उस पाप प्रवृत्तिसे इस जाति की रक्षा करनेके अर्थ ही ब्रिटिश साम्राज्यकी स्थापना हुई है। अब आर्य्यजातिके लिये प्रतिक्षण अपने कर्म्मोंके ये सब कार्य्यकारणसम्बन्ध स्मरण रखनेके विषय हैं। ऐसे पवित्र विचार इस समय प्रकट होने लगे। पूर्वभारतके अधिवासी पवित्रात्मा धार्म्मिकवर श्रीभूदेव मुखोपाध्याय महाशय ऐसी चेतावनी प्रकट करनेमें अग्रगण्य हुए।

वर्णोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ स्थानीय हैं, और आश्रमोंमें सन्न्यास शीर्षस्थानीय है, अतः ब्राह्मणोंके भी गुरु सन्न्यासी ही कहाते हैं। इस समयमें जिस प्रकार गृहस्थ आश्रमके अधिकारियोंमें ब्राह्मणोंकी उत्तेजनासे कुछ पुरुषार्थ-शक्तिका उदय हुआ, उसी प्रकारसे संसार-विरागी सन्न्यासियोंमें भी परोपकारव्रतके अवलम्बनसे धर्म्मोत्तेजनाप्रवृत्तिकी विशेषता दिखाई दी। प्रति तीन वर्षमें भारतके चार प्रसिद्ध तीर्थोंमें जो महाकुम्भके मेले हुआ करते हैं, जिन मेलोंका समागम क्रमशः एक एक तीर्थपर द्वादश वर्षमें हुआ करता है, साधु महात्माओंके उन असाधारण सम्मेलनोंमें लोकहितकर धर्म्मपुरुषार्थकी चर्चा अधिक होने लगी। सन्न्यासियोंमेंसे कई परोपकारव्रतधारी महापुरुषोंने भी बहुत कुछ कार्य्य कर

दिखाया। जिनमेंसे धर्म्मप्रचारकार्य्यमें शारदामठाधीश परमहंस परिव्राजकाचार्य्य पूज्यपाद श्रीस्वामी श्रीमद्राजराजेश्वर शङ्कराश्रम शङ्कराचार्य्यजी महाराजने और विद्याप्रचारके विषयमें परमहंस परिव्राजकाचार्य्य पूज्यपाद श्रीमान् स्वामी ब्रह्मनाथ आश्रमजी महाराजने बहुत कुछ कार्य्य किया, जिसके द्वारा नवीन उत्साहसे उत्साहित ब्राह्मणगणके चित्तमें बहुत कुछ उत्साहकी दृढ़ता हुई। इसी समय असाधारण धर्म्मवक्ता वाग्मिवर महात्मा कृष्णानन्दजी द्वारा प्रतिष्ठित काशीकी भारतवर्षीय आर्य्यधर्म्मप्रचारिणीसभाने पूर्व भारत व बङ्गाल आदि प्रान्तोंमें नाना शाखासभास्थापन, धर्म्मव्याख्यान द्वारा धर्म्मका प्रचार आदि कार्य्योंमें तथा ब्रह्मसमाजके द्वारा विचलित हिन्दूसन्तानकी श्रद्धा पैतृकसनातनधर्म्मकी ओर फेरनेमें बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। इसी प्रकारसे बंबई प्रान्तमें श्रीशारदामठाधीश आचार्य्य प्रभुके अनुशासनाधीन रहकर सनातनधर्म्मपरिषद् आदिने उस प्रान्तमें पश्चिमी-शिक्षासे विकृतमस्तिष्क पुरुषोंकी बुद्धि फेरनेमें बहुत कुछ कार्य्य कर दिखाया। सनातनधर्म्म एक मात्र संस्कृतविद्यारूपी भित्ति पर स्थित है, विद्याका प्रधान आश्रयस्थल शास्त्रीय ग्रन्थ हैं। आज कई सहस्र वर्षसे नाना राजनैतिकविप्लव, सामाजिकविप्लव और धर्म्मविप्लवोंके कारण वेद तथा नाना शास्त्रीय ग्रन्थोंका अब एक सहस्रांश भी पृथिवी पर नहीं रहा। और जो कुछ संस्कृत ग्रन्थ शेष भी हैं उन सबका अधिकांश प्रायः अप्रकाशित और लुप्त हो रहा है। सनातनधर्म्मकी भित्तिरूपी संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसन्धान करनेमें इटावानगरस्थ पुस्तकोन्नति

सभाने असाधारण कार्य्य कर दिखाया। इसी समय पंजाबकी धर्म्मसभाओंने और बंगालेकी हरिसभाओंने सनातनधर्म्मकी मर्य्यादारक्षा, संस्कृत विद्याका प्रचार और भगवद्भक्तिविस्तार आदि कार्य्योंके द्वारा उन उन प्रान्तोंमें समय समय पर बहुत कुछ सत्पुरुषार्थ कर दिखाया। धर्म्मके पुनरभ्युदयके इस आनन्दमय व शान्तिवर्द्धक शुभकालमें आर्य्यावर्त्तके ब्रह्मावर्त्तप्रदेश*में कुछ विशेष कार्य्य हुआ। प्रथम हरिद्वारतीर्थके महाकुम्भके मेलेके समय वर्णगुरु ब्राह्मणोंके द्वारा भारतधर्म्ममहामण्डल नामक महासभाका जन्म हुआ, तदनन्तर त्रिवेणीतीर्थके महाकुम्भके मेलेके समय आश्रमगुरु सन्न्यासिगणके द्वारा निगमागममण्डली नामक दूसरी महासभाकी सृष्टि हुई, एकने प्रचार कार्य्य और दूसरीने प्रबन्धकार्य्यमें सफलता प्राप्त की। और तत्पश्चात् कलेर्गताब्दाः ५००१में दोनोंका पुरुषार्थ एक होकर कार्य्य करनेका सुअवसर हुआ तो उन दोनों सभाओंके सम्मेलनसे कलेर्गताब्दाः ५००२में† श्रीमथुरापुरीके महाअधिवेशनमें नियमबद्ध विराट्सभा श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलका जन्म हुआ। इस स्वजातीय अध्यात्म महायज्ञका

---

* आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते॥ इति मनुः॥

† कलेर्गताब्दाः ५००२ के अन्तमें चैत्र कृष्णपक्षमें इस विराट्सभाका जन्म हुआ।

प्रारम्भ इस समयके बड़े बड़े सिद्ध महात्माओंके उपदेश और आशीर्व्वादसे किया गया। और भारतवर्षके सब प्रान्तोंके सामाजिकनेताओं तथा प्रतिनिधियोंकी सम्मतिसे इस धर्म्मकार्य्यका प्रारम्भ हुआ।

दार्शनिक कवियोंने भारतवर्षके विषयमें ऐसा वर्णन किया है कि मानों श्रीभगवान्‌ने अपनी पूर्णशक्तिके विकाश करनेके अर्थ इस पृथिवी पर एक अति सुन्दर रम्य पुष्पवाटिकारूपसे भारतवर्षकी सृष्टि की है; जहां केवल धर्म्मरूपी पुष्पोंका विकाश हुआ करता है; और मोक्षरूपी फलकी उत्पत्तिके अर्थ जगत्‌पिताने यह एकही स्थान निर्मित किया है[1]। वास्तवमें भारतबर्षकी यह प्रशंसा अत्युक्ति नहीं है। पूज्यपाद महर्षिगणने और भी कहा है कि भारतवर्षके अन्तर्गत आर्य्यावर्त्तके ही अग्रजन्मा ब्राह्मणवर्ण द्वारा समस्त पृथिवीभरमें अध्यात्मज्ञानका विस्तार होकर मनुष्यमात्रका कल्याण होगा[2]। प्राचीन कालमें ऐसा ही हुआ था। परन्तु सर्वकालमें ऋषिवाक्योंकी सफलता प्रतिपादनार्थ मानों अब कराल कलिकालके इस विकराल समयमें भी धर्म्मज्योतिविस्तारके अर्थ इस विराट्‌सभाकी सृष्टि हुई है। परमानन्दपरिपूर्ण कैलासकाननमें शिवशक्तिसम्मेलनसे जिस प्रकार परमपदरूपी मुक्तिफलकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार भारतकाननमें इस

---

[1] मन्ये विधात्रा जगदेककाननम् विनिर्मितं वर्षमिदं सुशोभनम्।
धर्म्माख्यपुष्पाणि कियन्ति यत्रवै कैवल्यरूपं च फलं प्रचीयते॥

[2] एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्व्वमानवाः॥ इति मनुः॥

धर्म्ममण्डल व धर्म्ममण्डलीके सम्मेलन द्वारा मानों त्रितापसे तापित आर्य्यजातिको धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी फलोंकी प्राप्ति करानेके लिये श्रीभारतधर्म्ममहा-मण्डलकी उत्पत्ति हुई है।

जिस प्रकार विना दोनों पंखोंकी सहायताके पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार प्रारब्ध और पुरुषार्थ इन दोनोंकी सहायता विना जीव न अभ्युदय और न निःश्रेयस किसीकी भी प्राप्ति कर सकता है। महा-भारतके महायुद्धके अनन्तर आर्य्यजातिको राजसिक सहायताके विचारसे इस प्रकारका सर्व्वप्रान्तव्यापी शांतिमय सुअवसर वहुत ही अल्पवार प्राप्त हुआ है। निरपेक्ष विचार द्वारा यह मानना ही पड़ेगा कि पूज्य-पाद त्रिकालदर्शी भगवान् शङ्कराचार्य्य प्रभुके तिरोभा-वके अनन्तर सार्वभौम धर्म्मव्यवस्था करनेके उपयोगी सुसमय एवं सुशासनके विचारसे स्थायी सुअवसर आर्य्यजातिको अभी मिला है। न्यायपक्षपातिनी, वुद्धिमती, नीतिज्ञा और गुणग्राहिणी त्रिटिश गवर्न्मेण्टके सुप्रवन्ध द्वारा आज दिन आर्य्यजातिको आत्मोन्नति करनेके अर्थ उन्नत अवसरकी प्राप्ति हुई है, इसमें सन्देह ही नहीं। सनातनधर्म्मके अनुसार राजा देवतावत् मान-नीय है। इस कारण इस समय उनकी मङ्गलकामनासे विरत न होकर आर्य्यजाति अपनी आध्यात्मिक उन्नतिके सकल प्रकारके साधन एवं अभ्युदयके अनेक प्रकारके पुरुषार्थ कर सकती है, इसमें सन्देह नहीं। अतः इस समय आर्य्यजातिका सत् प्रारब्ध उदय हुआ है। अव पुरुषार्थ

द्वारा आत्मोन्नति करनेकी अपेक्षा है। किसी प्रकारका सत्पुरुषार्थ हो, नियमपालनके विना सफलता प्राप्त करना असम्भव है। केवल अनुशासनके द्वारा ही नियमकी रक्षा हो सकती है; धर्म्मानुशासन ही सफलता प्राप्त करनेका बीजमंत्र है। सनातनधर्म्मावलम्बी समाजमें धर्म्मानुशासनका यथादेशकाल और यथासम्भव अधिकार प्रवृत्त कराकर धर्म्मका पुनरभ्युदय और सद्विद्याका विस्तार करनेके अर्थ ही सर्वशक्तिमान् श्रीहरिकी अपार कृपासे इस विराट्सभाकी उत्पत्ति हुई है।

इति प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीय अध्याय ।

—o—

चिन्ताका कारण ।

सदाचारमूलकजातिधर्म्मके साथ किस प्रकार जीवकी क्रमोन्नति तथा अन्तमें मुक्तिपद तकका सम्बन्ध है, इसकी वैज्ञानिक युक्ति शास्त्रानुसार दिखाई जाती है। आचार ही जातिका मूल है,[1] प्रकृति और प्रवृत्ति, गुण और कर्म्मके भेदसे जातियोंकी सृष्टि हुई है। परन्तु सदाचार भिन्न भिन्न जातिके लिये भिन्न भिन्न रूपसे है, और अपनी अपनी जातिके अनुसार सदाचारोंका पालन करना ही जातित्वरक्षाका मूलकारण है। आर्य्यजाति के सदाचार शास्त्र द्वारा ही स्थिरीकृत हुए हैं, इस कारण शास्त्र ही सदाचारोंका मूल है। वेदवाक्य ही शास्त्रका मूल है, क्योंकि अभ्रान्त सनातनधर्म्मके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं, केवल जीवोंके कल्याणार्थ श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही वेदोंका प्रकाश किया है, और सनातनधर्म्ममें

---

[1] "आचारमूलाज्जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः ।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः ॥
क्रियामूलः साधकश्च क्रियाऽपि फलमूलिका ।
फलमूलं सुखं देव सुखमानन्दमूलकम् ॥
आनन्दो ज्ञानमूलं च ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम् ।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं हि ब्रह्ममूलकम् ॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात् सर्वमूलकम् ।
ऐक्यं हि परमेशान भावाऽतीतं सुनिश्चितम् ।
भावाऽतीतमिदं सर्वं प्रकाशभावमात्रकम्" ॥
इति विज्ञानभाष्ये ॥

जितने शास्त्र हैं वे सब ही वेदके अनुयायी हैं। त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी अभ्रान्तबुद्धि द्वारा वेदमतप्रतिपादनार्थ नाना शास्त्रोंकी सृष्टि की है, इस कारण वेदमतानुयायी समस्त शास्त्रोंके ही मूलमें श्रीवेदभगवान् हैं। जैसे मलय मारुतके बहते समय साररहित बांसोंके वृक्ष चन्दनमें परिणत नहीं होते, परन्तु जितने सारवान् वृक्ष उस पर्वत पर होते हैं उन सबोंमें चन्दनकी सुगन्धि आजाती है, तैसे ही साधनविहीन जड़ अन्तःकरणोंमें ईश्वरकी निर्मलज्योतिरूपी वेद प्रतिविम्बित नहीं होते। परन्तु असाधारण तप और योगसम्पन्न साधकके निर्मल हृदयमें स्वतः ही उनका स्वरूप प्रकाशित होने लगता है। विना साधक हुए केवल इच्छा करनेसे ही मनुष्य भगवत्ज्योतिका अधिकारी नहीं हो सकता। साधकचूड़ामणि महर्षिगणके असाधारण तप और योगसाधन द्वारा ही उनके अन्तःकरणमें वेदका आविर्भाव हुआ था। अतः साधक ही वेदका मूल है। क्रिया करनेसे ही मनुष्य साधक कहाता है, इसलिये योगतपरूपी क्रिया ही साधकताका मूल है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों फलोंकी आशा करके अथवा इनमेंसे किसी न किसीकी आशा करके जीव क्रिया करता है; इस कारण क्रियाका मूल फल है। परन्तु यदि विचार किया जाय कि, इन फलोंकी इच्छा जीव क्यों करता है, तो यही सिद्धान्त होगा कि जीव सुखकी इच्छासे भटकता हुआ इन चतुर्वर्गरूपी फलोंकी इच्छा करता है; इस कारण फलका मूल सुख है। वैषयिक सुख और दुःखसे

परे जो अद्वैतरूपी अवस्थामें ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है उसीका नाम यथार्थ आनन्द है, परमात्माका जो सत् चित् आनन्दरूप वर्णन करते हैं वह आनन्द इन्द्रियादिके सुख दुःखसे परे है, जीव पूर्वस्मृतिके अनुसार उसी आनन्दको ढूंढ़ता हुआ भ्रमसे सांसारिक सुखको ही यथार्थ आनन्द समझने लगता है; इसी कारण आनन्द ही सुखका मूल है। जब "नेति नेति" विचारसे जीव अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा यह निश्चय कर लेता है कि यह माया-कल्पित वैषयिक सुख यथार्थमें सुख नहीं है, क्योंकि क्षणभंगुर पदार्थोंका सुख क्षणभंगुर ही होता है; भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों अवस्थाओंमें स्थायी परमात्माका जो आनन्द है वही यथार्थ आनन्द है, जब ज्ञान ही इस विचारका कारण है तो वह ज्ञान आनन्दका कारण हुआ। लक्ष्य अर्थात् ज्ञेयवस्तुके जाननेके अर्थ ही जीवके अन्तःकरणमें ज्ञानकी स्फूर्त्ति होती है, इसी कारण ज्ञानका मूल ज्ञेय है। परमतत्त्व ही ज्ञेयका शेष है अर्थात् परमतत्त्वके साथ साक्षात्कार होने पर और कोई पदार्थ जानना बाकी नहीं रहता है। इस कारण तत्त्वानुभव ही ज्ञेयका मूल हुआ। और तत्त्वातीत परमतत्त्व ही सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म हैं, इस कारण ब्रह्म ही सब तत्त्वोंके मूल हुए। समस्त शास्त्रोंमें, समस्त मतोंमें, समस्त क्रियाओंमें और समस्त साधनोंमें ऐक्य वा सामञ्जस्य रखना ही सबका मूल है, और इसी प्रकार एकतायुक्त सार्वभौम ज्ञान ही ब्रह्मज्ञानका मूल है और वही परब्रह्म परमेश्वर मायातीत होने पर भी निखिल चराचर-विश्वके अनन्त-

भावप्रकाशक हैं। इस प्रकार जातिका ब्रह्मसद्भाव-पद्से दृढ़ परम्परासम्बन्ध है सो वैज्ञानिक विचारसे सिद्ध हुआ।

गुण और कर्म्म द्वारा जातिका विचार हुआ करता है[1]। सत्त्व, रज और तम इन गुणोंके तरङ्गोंका विशेष विशेष लक्षण जिन जीवोंमें पाया जाय उनकी उस गुण-विशेषता द्वारा विशेष विशेष जातिका निर्णय किया जाता है। द्वितीयतः जीवगणके स्वाभाविक कर्म्मोंकी गतिको मिलाकर कर्म्मविचार द्वारा जातिविचार किया जाता है। इस रीतिके अनुसार गुण और कर्म्मोंकी पृथकृता देखते हुए प्रत्येक जीव-श्रेणीमें विशेषतारूप जातिका निश्चय हुआ करता है। इसी वैज्ञानिक विचारके अनुसार साधारण जीव गणमें जरायुज जाति, अण्डज जाति स्वेद्ज जाति और उद्भिज्ज जातिका निश्चय किया गया है। इसी वैज्ञानिक विचारकी भित्तिपर स्थित रह कर पुनः जरायुज जातिकी चार संज्ञायें की हैं, यथा—आर्य्यजाति, अनार्य्यजाति, उन्नत-पशुजाति और निकृष्ट-पशुजाति। और इसी वैज्ञानिक विचारकी सहायतासे पुनः आर्य्य-जातिकी चार संज्ञायें की हैं, यथा ब्राह्मणजाति, क्षत्रिय जाति, वैश्यजाति और शूद्रजाति। इसके उपरान्त गुण और कर्म्मके तारतम्यके विचार द्वारा सृष्टिके सब अंगोंमें जातिका विचार विज्ञानसिद्ध होनेके कारण जातिविभाग

---

[1] चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।

इति गीतासु ॥

स्वतःसिद्ध है [१]। गुण और कर्म्म सम्बन्धी रहस्योंको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिये यह विचारना उचित है कि गुण और कर्म्मका स्वरूप क्या है? तथा इन दोनोंका आधार क्या है? सत्त्व, रज और तम ये प्रकृतिके तीन गुण हैं, इस प्राकृतिक ब्रह्माण्डके प्रत्येक अंगमें स्वभावसिद्ध इन तीन प्राकृतिक गुणोंका अवश्य ही सम्बन्ध रहता है। फलतः जातिधर्म्मके साथ इन तीनों गुणोंका घनिष्ठ सम्बन्ध रहेगा, इसमें सन्देह ही क्या है? उदाहरणस्थल पर समझ सकते हैं कि सत्त्वगुणका प्राधान्य ब्राह्मणजाति में रहता है, सत्त्व और रजका मिश्र सम्बन्ध क्षत्रिय जातिमें रहता है, रज और तमका युक्तसम्बन्ध वैश्य-जातिमें हुआ करता है और तमगुणका प्राधान्य शूद्र जाति में रहता है। त्रिगुणकी स्थिति यद्यपि सब स्थानों में है किन्तु उस प्राधान्यके विचारसे ऊपर लिखी रीति के अनुसार गुणकी व्यवस्था चारों वर्णोंमें मानी गई है। इसी कारण सनातनधर्मके विज्ञानशास्त्रमें स्पष्टरूपसे

[१] उद्भिज्जाश्चाण्डजाश्चैव स्वेदजाश्च जरायुजाः।
जीवाश्चतुर्विधां जातिं लभन्ते स्वस्वभावतः॥
यथा जरायुजा यान्ति जातिभेदंचतुर्विधम्।
आर्य्यानार्य्यनराश्चैव पशवश्चोत्तमाधमाः॥
तथा निसर्गसंसिद्धो ह्यार्याणामार्य्यमानिनाम्।
चतुर्द्धा जातिभेदोऽयं चातुर्वर्ण्यं तदुच्यते॥
चातुर्वर्ण्यात् स्वतः सिद्धादन्यद्वर्णान्तरं यदा।
विरुद्धं तद्भवेत्सर्व्वं प्रकृतेर्नात्र संशयः॥

इति बृहत्तंत्रसारे॥

दिखाया गया है कि गुणोंके लक्षण प्रत्येक वर्णके अधिकारीमें आप ही आप (स्वभावतः) प्रकट होते हैं[1]। गुणविज्ञानका यही सिद्धान्त विचार है किन्तु कर्मविज्ञानसे तात्पर्य्य अन्य प्रकारका है। जीव जो कुछ क्रिया करता है उसको कर्म्म कहा जाता है, जीवके पूर्व और वर्त्तमान अभ्यास द्वारा उसमें विशेष विशेष कर्म्म करनेकी शक्ति और प्रवृत्ति हुआ करती है। कर्म्म करनेकी शक्ति अभ्यासद्वारा पाई जा सकती है यही गुण और कर्म्मका संक्षेप रहस्य है। इन दोनोंके आधारका विचार करनेसे यह निश्चय होगा कि अभ्यासके साथ कर्म्मका साक्षात् सम्बन्ध रहनेके कारण जो मनुष्य जैसा अभ्यास बढ़ावेगा वह वैसा ही कर्म्म कर सकेगा। कर्म्मसंग्रहके विषयमें मनुष्य स्वाधीन है। परन्तु गुणके साथ शरीरका साक्षात् सम्बन्ध होनेके कारण गुणके विचारसे मनुष्यको अवश्य पराधीन मानना पड़ेगा। गुणकी विकाशभूमि यह स्थूलशरीर वैसे ही गुणोंका

---

[1] ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्म स्वभावजम्॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
भ० गीता०॥

प्रकाश करनेमें समर्थ होगा कि जैसे गुणोंके बीजरूपी संस्कार कर्म्माशयसे मनुष्यको इस जन्मके ग्रहण करते समय मिले हैं एवं जैसी प्रकृतिको मनुष्यने माता-पिता के रजवीर्य्यकी सहायतासे प्राप्त किया है। अभ्यास द्वारा कर्म्मका परिवर्त्तन होनेके कारण एक जातिका मनुष्य दूसरी जातिके कर्म्मका अभ्यास कर सकता है। परन्तु गुणके साथ शरीरका अभेद सम्बन्ध रहनेके कारण साधारण पुरुषार्थ द्वारा गुणका परिवर्त्तन नहीं हो सकता। हां, योग अथवा तपरूपी असाधारण पुरुषार्थ द्वारा स्थूल शरीरके परमाणुका परिवर्त्तन होजानेसे गुणोंका परिवर्त्तन हो सकता है। ऐसा उदाहरण महर्षि विश्वामित्र तथा नन्दीदेव आदिके जीवनका पुराणादि शास्त्रोंमें मिलता भी है। परन्तु वह साधारण नियम नहीं है। इसके उपरान्त जन्मके साथ स्थूल शरीर और स्थूल शरीरके साथ गुणोंका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहनेके कारण गुणके विचारसे मनुष्यको अवश्य ही पराधीन मानना पड़ेगा। अतः वैज्ञानिक विचार द्वारा यह सिद्धान्त हुआ कि जो मनुष्य जिस जातिमें उत्पन्न हुआ है वह उसी जातिमें रहेगा, निम्न जातिका मनुष्य कदापि कर्म्मोंके परिवर्त्तनसे उच्चजातिको नहीं प्राप्त कर सकता। हां इसमें सन्देह नहीं है कि एक जातिका मनुष्य यदि गुण और कर्म्म दोनों ही अपने जातिधर्म्मके अनुसार संग्रह कर सके तब ही वह उस जातिधर्म्मका पूर्ण अधिकारी कहा जा सकता है। और इन दोनोंमेंसे एकका अभाव होने पर भी वह अपने धर्म्ममें अधूरा अवश्य कहावेगा।

आर्य्यशास्त्रोंके सब प्रकारके विचार भी त्रिभावात्मक हैं। उनके नाम अध्यात्म, अधिदैव एवं अधिभूत हैं। उस विचारके अनुसार जातिगत शुद्धि भी त्रिविध है। ज्ञानके द्वारा जातिकी अध्यात्मशुद्धि, कर्म्मके द्वारा जातिकी अधिदैवशुद्धि एवं गुणके द्वारा जातिकी अधिभूतशुद्धि वा अस्तित्वरक्षा हो सक्ती है। इस त्रिविधशुद्धिमें किसीका भी अभाव होने पर उस जातिधर्म्मका उतना ही अभाव होगा। जातिधर्म्म केवल कर्म्म के परिवर्त्तनसे परिवर्त्तनीय नहीं है, इसका प्रधान वैज्ञानिक कारण यह है कि जाति सृष्टिका एक स्वभावसिद्ध अङ्ग है अतः सृष्टि और लयके स्वभावसिद्ध क्रमके अनुसार ही जातिधर्म्मका परिवर्त्तन हो सकता है अर्थात् एक जातिका जीव जन्मान्तरमें ही अन्यजातिको प्राप्त कर सकता है, सहसा कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि एक जाति क्रमशः वर्णसंकर तथा कर्म्मसंकर होती हुई पतितसे अति पतित दशाको पहुंचकर अन्तमें नीची कोटिमें पहुंच सकती है। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि कोई जाति अपने कर्म्मोंको सुधारने पर भी उच्चजाति नहीं बन सकती, परन्तु अपनी दशाको बिगाड़ती हुई नीचजाति कैसे बन जाती है?

विज्ञानसिद्ध सनातनधर्म्मके अनुसार सृष्टि एक प्रकारसे अनादि और दूसरे प्रकारसे सादि मानी गई है। वेदान्त तथा सांख्य आदि शास्त्रोंके अनुसार सृष्टिका प्रारम्भ दो प्रकारसे माने जाने पर भी समष्टि

और व्यष्टि विचार द्वारा दोनों ही मत सत्य और विज्ञानसिद्ध हैं। इसी प्रकार सृष्टिप्रकरण भी दो प्रकारसे शास्त्रोंमें कहा गया है। अध्यात्मवर्णनमें परमेश्वरके अचिन्तनीय भावरूपी इच्छा शक्तिसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवीकी उत्पत्ति हुई है। इन पांचों तत्त्वोंके सत्त्व-अंशसे बुद्धितत्त्वकी उत्पत्ति और तदनन्तर ज्ञानइन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति होते हुए इस पञ्चीकृत ब्रह्माण्डकी सृष्टि हुई है[1]। पुनः जीवसृष्टिके विषयमें प्रथम परिणाममें उद्भिज्ज पुनः स्वेदज तदनन्तर अण्डज तत्पश्चात् जरायुज और इस जरायुजसृष्टिकी उन्नतावस्थामें मनुष्यकी सृष्टि मानी गई है। मनुष्यदेहमें ही मुक्तिपद प्राप्त करके व्यष्टि सृष्टिका लय हो जाना माना गया है। परन्तु वेद स्मृति और पुराणादिकमें जो आधिभौतिक सृष्टिका वर्णन किया गया है उस वर्णनमें श्रीभगवान्की इच्छासे प्रथम कारण वारिकी सृष्टि मानी गई है। तत्पश्चात् उस कारणरूपी महासमुद्रमें सुवर्णप्रभाविशिष्ट अण्डकी उत्पत्ति स्वीकार की गई है। उसी अण्डमेंसे चतुर्मुख श्रीब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई है। उनके रूपके विषयमें पुराणोंमें अति अपूर्व्व वर्णन है। कारण महासमुद्रमें अनन्तरूपी शेषकी शय्या पर श्रीविष्णु भगवान् सोये हुए हैं, श्रीलक्ष्मीदेवी उनकी पदसेवा

[1] तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी, इत्यादि श्रुतेः ॥

तैत्ति० उ० प्र० १ अ०।

कर रही हैं, ऐसे श्रीभगवान्‌के नाभिकमलसे चतुर्वेदोंको हस्तमें धारण करते हुए चतुर्मुख श्रीब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ है[1]। श्रीब्रह्माजीने सबसे प्रथम चतुर्दश-भुवनोंकी सृष्टि करते हुए उनमें जीवसृष्टिविस्तारके अर्थ सनक सनन्दन आदि चार पुत्रोंको उत्पन्न किया। वे चारों पूर्णज्ञानयुक्त महात्मा होनेके कारण उनमें सृष्टि करनेकी इच्छा नहीं हुई। परमहंसदशा ही मनुष्यत्वकी पूर्णता है, परमहंसदशामें ही पूर्णविज्ञानरूपी ब्रह्मसद्-भावका उदय बना रहता है, फलतः इस दशाको प्राप्त हुए इन चार महापुरुषोंके द्वारा सृष्टिका प्रवाह बढ़ना असम्भव हुआ। उन्होंने हाथ जोड़ कर पिता श्रीब्रह्माजीसे निवेदन किया कि हमारे द्वारा सृष्टिकार्य्यमें सहायता होना असम्भव है। तब श्रीब्रह्माजीने गत्यन्तर न देखकर पुनर्वार अपनी इच्छाशक्तिसे सप्त (मतान्तरसे दश) ऋषियोंकी उत्पत्ति की। उनमें सृष्टिकी इच्छा प्रकट हुई, परन्तु वे भी इतने उन्नत थे कि उनको मैथुनीसृष्टि नहीं करनी पड़ी; केवल मनके द्वारा ही उन्होंने अनेका-

---

[1] तस्मिन्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥

ऋ० १० अ० ८२ सू० ६ मंत्र ॥

अधिभूत सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें इस प्रकारकी श्रुतिकी सहायतासे पुराणोंके नाना स्थानोंमें सृष्टिप्रकरणका वर्णन है। विस्तार बाहुल्यके कारण विस्तारित प्रमाण नहीं दिया गया।

नेक जीवमय अनन्तसृष्टिका विस्तार किया[१]। उस समय जिन मनुष्योंकी सृष्टि हुई वे उन्नताधिकारी होने के कारण सब ही ब्राह्मण हुए; उस समयका यह संसार पूर्ण ज्ञानयुक्त और शांतियुक्त हुआ[२]। तत्पश्चात् बहुकालके अनन्तर जब उस ब्राह्मणप्रजाके कर्म्मोंमें अन्तर

---

[१] सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारञ्च मुनीन् निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥
तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाःसृजत पुत्रकाः।
तेनैच्छन् मोक्षधर्म्माणो वासुदेवपरायणाः॥
अथाभिध्यायतः सर्गं दशपुत्राः प्रजज्ञिरे।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः॥
मरीचिरत्र्यगिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥

भाग० ३ स्क० १२ अ० ॥

[२] असृजत् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥
न विशेषोस्ति वर्णानां सर्व्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्व्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णतां गतम्॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्म्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥
गोभ्योवृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्म्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतांगताः॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्व्वकर्म्मोपजीविनः।
कृष्णाःशौचपरिभ्रष्टास्तेद्विजाःशूद्रतांगताः॥

महाभारत, शां० १८८ अ० ॥

पड़ने लगा तो उनमें अधिकारभेद उत्पन्न हुआ, उस समय श्रीब्रह्माजीने श्रीमनु महाराजको क्षत्रियराजधर्म्मका अधिकार देकर प्रजाको चातुर्वर्ण्य यथायोग्य रूपसे विभक्त करके राजानुशासनमर्य्यादाका विस्तार करनेकी आज्ञा दी। तभी वर्णाश्रममर्य्यादा स्थापित हुई और प्रजाका निम्नगामी स्रोत रुका। मनुष्यसृष्टिकी अधोगामिनीगति जो स्वभावसिद्ध है उसका अवरोध करनेके अभिप्रायसे वर्णाश्रमधर्म्म स्थापित हुआ है।

इस जड़चेतनात्मक सृष्टिलीलामें दो प्रकारका प्रवाह देखनेमें आता है। एक प्रवाह अज्ञान-तमोमय जड़राज्य से ज्ञानपूर्ण चैतन्यराज्यकी ओर प्रवाहित होता है और दूसरा प्रवाह ज्ञानपूर्ण चैतन्यराज्यकी ओरसे तमपूर्ण जड़राज्यकी ओर धावित होता है। इन्हीं दोनों प्रवाहोंके अनुसार जीवसृष्टिको भी दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। सूक्ष्मदृष्टिके अनुसार जीवगणको जड़प्रवाह और चेतनप्रवाहके अन्तर्गत मानकर दो अधिकारोंमें विभक्त कर सकते हैं। उद्भिज्जसे लेकर केवल मनुष्यके अतिरिक्त जरायुजके सब जीव ही जड़प्रवाहके जीव हैं और भगवत्कृपाके अधिकारी मनुष्यगण ही चेतनप्रवाह के जीव हैं। इस विज्ञानका सर्वोत्तम प्रमाण यह है कि मनुष्यके अतिरिक्त सब जीवगण ही अपनी अपनी प्रकृतिके सम्पूर्णरूपसे अधीन हैं। अन्य प्राणियोंके आहार-निद्रा-भय-मैथुन-सम्बन्धीय सभी काम उनकी प्रकृतिके अनुसार ही हुआ करते हैं। सिंहको घास खिलानेका अभ्यास कराना अथवा तृणभोजी पशुको मांसाशी

बनाना सर्वथा असम्भव है। इसी रीतिके अनुसार मैथुना-दिकी क्रिया भी समझना उचित है। अपिच मनुष्यके अतिरिक्त यावत् प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिके विरुद्ध कोई भी कार्य्य करनेको समर्थ नहीं हो सकते। परन्तु मनुष्यका अधिकार उन्नत होनेके कारण वे अपनी प्रकृति पर आधिपत्य करके अनेक प्रकारके अप्राकृतिक कार्य्य कर सकते हैं। पूर्ण रूपसे प्रकृति पर आधिपत्य करना केवल ईश्वर का कार्य्य है। परन्तु ईश्वरकृपाको प्राप्त करके मनुष्यगण ही अपनी अपनी क्षुद्र तथा असम्पूर्ण शक्तिके अनुसार यथासम्भवरूपसे अपनी अपनी प्रकृति पर अधिकार जमानेमें समर्थ हुआ करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यकी इस असाधारण शक्ति से ही वह पाप तथा पुण्यका भागी हुआ करता है। अर्थात् मनुष्य जब अपनी शक्तिको प्रकृतिके प्रवाहके अनुकूल कर धर्म्मोन्नति करता रहता है तब वह पुण्यका अधि-कारी होता है और जब अज्ञानसे ग्रसित होकर तामसिककार्य्य द्वारा अधर्म्मकार्यमें प्रवृत्त होता है तब वह पापका अधिकारी हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्ययोनिमें श्रीभगवान्ने जीवको अपनी स्वाधी-नशक्तिका अधिकार जिस प्रकारसे दिया है उसी प्रकार अन्य योनियोंके जीवोंके अतिरिक्त उसको पाप-पुण्य के भोगनेमें पराधीनता दी है। इसी कारणसे अन्य प्राणी अपने अपने किये हुए कर्मोंके फलभोगी नहीं होते, किन्तु मनुष्य अपने मानसिक और शारीरिक सब प्रकार के कर्मोंके फलभोगी हुआ करते हैं। फलतः क्रमोन्नतिका

सम्बन्ध सबके साथ रहने पर भी जड़प्रवाहके जीवोंमें प्राकृतिक-शक्तिका विकाश और मनुष्ययोनिमें ज्ञानका विकाश होना विचारसिद्ध हुआ । यह ज्ञानशक्तिकी सहायताका ही कारण है कि जिससे मनुष्यगण अपनी प्रकृतिकी शक्ति पर आधिपत्य करके पुण्यसंचय कर सकते हैं और अन्तमें कर्म्मबन्धनसे बच कर मुक्तिपदके अधिकारी हो सकते हैं। जड़प्रवाहके जीव, प्रकृति माताके आज्ञाधीन रहते हैं इस कारण प्रकृति माता, उनको अपनी स्वाभाविक शक्तिके अनुसार उच्चतर गतिको पहुंचा दिया करती है और किसी दशामें नीचेकी ओर गिरने नहीं देती । परन्तु मनुष्ययोनिमें जीव ऐसी शक्ति को प्राप्त करके स्वाधीन हो जाता है तब उसकी कुछ और ही दशा हो जाती है । मनुष्ययोनिमें अहं तत्त्वके विकाशके साथ ही साथ इच्छा और क्रियाके जालमें फंसकर महामायाके मोहसे वह समझने लगता है कि मैं ही सब कुछ कर सकता हूँ; इसी कारण उस दशामें उसके अन्तःकरण पर आवरणशक्तिका आधिपत्य कुछ घट जानेसे ज्ञानके विकाशके साथ ही साथ क्रियाशक्तिकी अधिकता होकर इन्द्रियसम्बन्ध अधिक बढ़ जाता है । इसी कारण जड़प्रवाहके जीवगण नियमित इन्द्रियचालनके अतिरिक्त इन्द्रियसेवा नहीं कर सकते, और न उनमें अधिक इन्द्रियसुखभोगकी इच्छा ही हो सकती है; परन्तु चेतनप्रवाहकी मनुष्ययोनिमें इन्द्रियसुखभोगकी इच्छा प्रतिमुहूर्त बनी रहती है, और क्रियाशक्तिकी वृद्धिके साथ ही साथ उसकी इन्द्रि-

यचालनशक्ति भी असाधारण रूपसे बढ़ जाती है। अतः मनुष्ययोनिमें अन्तःकरणका स्वाभाविक प्रवाह जड़मय तमोभूमिकी ओर सदा बना रहता है। इसी कारण विज्ञानवित् पुरुषोंने यह सिद्धान्त किया है कि मनुष्यगण यदिच अपने असाधारण पुरुषार्थद्वारा मुक्ति-पदको प्राप्त कर सकते हैं परन्तु उनके अन्तःकरणकी स्वाभाविकगति अधोगामिनी है, इसमें सन्देह नहीं। जड़चेतनात्मक सृष्टिप्रवाहका यही अचिन्तनीय रहस्य है कि जिससे आदिसृष्टिमें पूर्ण–मानवकी उत्पत्ति होने पर भी परवर्त्ती सृष्टिमें मनुष्यकी गति क्रमशः निम्न-गामिनी हो चली; और इसी कारण श्रीभगवान्को वर्णाश्रममर्य्यादाकी सृष्टि करके उस अधोगामी-प्रवाहको रोकना पड़ा। वर्णाश्रममर्य्यादाके द्वारा वह स्रोत अव-श्य ही रुक गया। वर्णाश्रममर्य्यादा द्वारा मनुष्यकी अधोगामिनी गतिका अवरोध हुआ है। केवल वर्णा-श्रमधर्मरक्षाद्वारा आर्य्यजाति इतने समय तक इतना क्लेश सह कर भी अपने अस्तित्वकी रक्षा कर सकी है। आर्य्यजातिमें यदि वर्णाश्रमव्यवस्था नहीं होती तो यह जाति इतने दिन ग्रीक रोमन आदि जातियोंके अनु-सार अपना अस्तित्व नष्ट कर डालती।

पूर्वकथित जड़प्रवाह और चेतनप्रवाहके जीव-सम्बन्धी विज्ञानकी आलोचना द्वारा यह स्पष्टरूपसे सिद्ध हुआ कि कोई जाति अपने कर्म्मोंको उन्नत करने पर एकाएक उन्नतजाति नहीं हो सकती, क्योंकि आदि में पूर्ण-मानवकी उत्पत्ति हुई है उसके पश्चात्से ही

क्रमशः मनुष्यजाति पतित हुई है। मनुष्यके अन्तः करणकी स्वाभाविक गति अधोमुखी है; सुतरां कोई जाति यदि अपने जातिगत कर्म्मों का सुधार करनेमें सदा तत्पर न रहे तो क्रमशः उसका नीचजाति बन जाना सर्वथा सम्भव है। आर्य्यजाति और अनार्य्य-जातिका साधारण लक्षण पूर्वमें कहा गया है। शास्त्रों में प्रायः ऐसा लक्षण पाया जाता है कि वैदिक कर्म्म-काण्ड करनेवाली ही आर्य्यजाति, और वैदिककर्म्मवि-रोधिनी अनार्य्यजाति कहाती है। वेदोंमें भी इन जाति-विभागोंका वर्णन है१। आर्य्य शब्दार्थके विषयमें विचार करते हुए चिन्ताशील पुरुषोंने आर्य्यजातिकी ऐसी भी व्याख्या की है कि जो जाति आध्यात्मिक उन्नति करती हुई क्रमशः ऊर्ध्वगतिशील हो ब्रह्मनि-र्वाणपदको प्राप्त कर सके उसीका नाम आर्य्यजाति है। आर्य्यजातिका भावार्थ कुछ ही हो परन्तु यह मानना ही

---

१ विजानीह्यार्य्यान् येच दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ताते सधमादेषु चाकन॥
इति ऋक्श्रुतिः॥

यहां पर भाष्यकारने आर्य्यशब्दका अर्थ सनातनधर्म्मावलम्बी वैदिककर्म्मके अधिकारी माना है। मन्त्रके साधारण तात्पर्य्यसे भी ऐसा ही प्रतीत होता है। मनुसंहितामें आर्य्यावर्त स्थानका वर्णन है। तथा आर्य्य अनार्य्यके सम्बन्धसे सृष्टिकी उत्पत्तिके विषय में ऐसा कहा है कि "जातोनार्यामनार्य्यायामार्य्यादार्य्यो भवेद्गुणैः। जातोऽप्यनार्य्यादार्य्यायामनार्य्य इति निश्चयः॥" इससे भी यही तात्पर्य्य निकलता है कि वैदिक धर्म्मके अधिकारी आर्य्य और वैदिक धर्म्मसे रहित अनार्य्य कहाते हैं।

पड़ेगा कि वेदविज्ञानसम्मत वर्णाश्रमधर्म्मकी मर्य्यादा ही आर्य्यजातिधर्म्मकी मूलभित्ति है; और उस धर्म्म की रक्षा ही प्रधानतः आर्य्यजातिगत जीवनकी रक्षा करना है। वहिःप्रकृति, अन्तःप्रकृतिका केवल विकाश है। जीवगणकी अन्तःप्रकृति जिन जिन भावोंसे सम्मिलित रहती है उसके बहिर्लक्षण भी वैसे ही भावमय हुआ करते हैं। इसी वैज्ञानिक नियमके अनुसार सामुद्रिक शास्त्र द्वारा विद्वानलोग मनुष्यके बहिर्लक्षणोंको देखकर उस मनुष्यकी प्रकृति और प्रवृत्तिका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अन्तःप्रकृतिसे वहिःप्रकृतिका इतना मिश्रसम्बन्ध है कि मनुष्यगणकी यावन्मात्र बहिर्चेष्टाओंके साथ उसका सम्बन्ध रहा करता है। प्रत्येक मनुष्यके खान, पान, उठने, बैठने, श्रवण, मनन, आचार, विहार आदि सब चेष्टाओंके देखनेसे ही उसके जातिगत विचारोंका निर्णय हो सकता है। इसी कारणसे तमोगुण-पक्षपातिनी एशिया व अफ्रिकाकी विशेष विशेष जातियोंके, रजोगुण-पक्षपातिनी वर्त्तमान युरोप और अमेरिकाकी विशेष विशेष जातियोंके और सत्त्वगुण-पक्षपातिनी आर्य्यजातिके बहिःआचारोंमें बहुत ही अन्तर देख पड़ता है। उदाहरण-स्थल पर विचार सकते हैं कि इन तीनों मनुष्यजातियोंके भाषा, परिच्छद (पोशाक), रीति, नीति, आहार, विहार आदि द्वारा स्पष्टरूपसे उनकी विभिन्नता जानी जा सकती है। आर्य्यजाति स्वभावसे ही जिस प्रकार आहार और विहार आदिकी पक्षपातिनी है, उस प्रकार युरोपीय जातिका विचार

देखनेमें नहीं आता। प्रत्येक जातिका अपने जातिधर्म्मके साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ करता है और उसका यह फल होता है कि आर्य्यजातिके सदाचारीगण अन्यजातिके आचारोंको देख कर उनको बालकके खेल की न्याई समझा करते हैं और उसी रीति पर अन्य युरोपवासीगण भारतवासियोंकी रीति नीति पर कटाक्ष करके हास्य किया करते हैं। बहिर्भावसे अन्तर्भावका और अन्तर्भावसे बहिर्भावका मिश्रसम्बन्ध रहनेके कारण जिस प्रकार अन्तर्भावका प्रभाव बहिश्चेष्टाओंमें पड़ता है उसी प्रकार बहिःक्रियाओंका भी प्रभाव अन्तर्भाव पर पड़ा करता है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्यजातिके योग्य नेतागण अपनी जातिके आचारोंकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर देख पड़ते हैं। पृथिवीकी मनुष्यजातियोंमेंसे किसीका आचार चाहे कैसा ही हो, चाहे किसी एक जातिका आचार उत्कृष्ट और दूसरीका अपकृष्ट हो, अथवा चाहे किसीमें कुछ योग्यता रहे, परन्तु अपने जातीय भावकी रक्षा तभी हो सकती है, अपना जातिगत-जीवन तभी तक रह सकता है, जब तक वह जाति अपनी जातिगत रीति, नीति, खान, पान, भूषण, आच्छादन, भाषा और सदाचारमें दृढ़ और तत्पर रहती है। पृथिवी भरमें केवल आर्य्यजाति ही तेजस्वितापूर्वक कह सकती है कि हम ही अपने क्षेत्रकी पवित्रतारक्षा करनेमें समर्थ हैं; हमारी माताएं कदापि दो पुरुषके सङ्गसे अपने शरीरको कलङ्कित नहीं करतीं; आर्य्यनारीधर्म्मके अनुसार एक जीवनमें दो पतिका सङ्ग हो ही नहीं सक-

ता। इस संसार भरमें एक मात्र आर्य्यजाति ही गौरवसे कह सकती है कि वर्ण और आश्रमधर्म्मकी पवित्रमर्य्यादा केवल उनमें ही प्रचलित है । इस लोकमें केवल आर्य्यजाति ही लोकशिक्षाके अर्थ बता सकती है कि यह उसके ही जातिधर्म्ममें दृढ़ नियम है कि मनुष्यके प्रत्येकशारीरिकचेष्टारूपी सदाचारके साथ धर्म्मका अलौकिक सम्बन्ध रक्खा गया है। इस मृत्युलोकमें एकमात्र आर्य्यजाति ही धर्म्मकी असाधारणशक्तिका प्रचार करनेके अर्थ उपदेश दे सकती है कि कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन तीनों काण्डोंकी समता और इन तीनों काण्डोंका समान अधिकार उन्हींमें प्रचलित है। और इस क्षणभंगुर सृष्टिमें केवल आर्य्यजाति ही उर्ध्ववाहु होकर मनुष्योंको विषय-वैराग्य सिखानेके अर्थ प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाकर कह सकती है कि मनुष्यको सदा अन्तर्लक्ष्य होना उचित है । वे ही उन्नत मानव कहा सकते हैं जो अपनी प्रत्येक शारीरिक और मानसिक चेष्टा करते हुए भी इस संसारकी क्षणभंगुरताको न भूलें और सदा सब अवस्थामें अपना लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ही रक्खें ।

एक जाति जब अपने सदाचारोंको छोड़कर दूसरी जातिके रीति, नीति, खान, पान, भाषा और आचारोंको ग्रहण करने लगती है तो बहिर्लक्षणविचारसे उस जातिकी जातिगत विभिन्नताका नाश हो जाता है और साथ ही साथ कालान्तरमें उस जातिकी अन्तःप्रकृतिका भी परिवर्त्तन होकर उसके पूर्वजातिभावका पूर्णरूपसे

नाश हो जाता है; और शेषमें वह जाति एक नूतन जाति बन जाती है। फलतः इस प्रकारके अनुकरण द्वारा उस जातिका जीवन विनष्ट हो जाया करता है। एक जाति जब कभी दूसरी जातिसे जीती जाती है, अर्थात् अन्यदेशवासीगण जब किसी दूसरे देशमें जाकर उस देशके निवासीगणको बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया करते हैं तो प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि पराजित जाति क्रमशः विजेता-जातिकी रीति, नीति, भाषा, आचार और वेष आदिका अनुकरण करने लगती है। संसारमें दो शक्तियां देख पड़ती हैं, एक लघुशक्ति और दूसरी गुरुशक्ति। गुरुशक्तिद्वारा लघुशक्ति अधिकृत हो जाती है इसी कारणसे गुरु सात्त्विकशक्तिद्वारा शिष्यको अधीन कर लेता है, धर्म्माचार्य्यगण अपने मतावलम्बीगणमें ईश्वरका अवतार कहलाने लगते हैं, और इसी कारणसे जेतागण प्रथम तो अपनी राजसिक शक्ति द्वारा विजित जातिको बलपूर्वक अपने अधीन कर लेते हैं और फिर क्रमशः विजितजातिके आहार, विहार आदि सदाचारों पर भी अपना पूर्ण अधिकार स्वतः ही जमा सकते हैं। इसी अभ्रान्त प्राकृतिक नियमके अनुसार जगत्के इतिहासोंमें देखनेमें आया है कि सकल स्थानोंमें जेतागणकी गुरुशक्तिद्वारा पराजित-जातिकी लघुशक्ति स्वतः ही दब गई है, और क्रमशः सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती हुई गुरुशक्तिमें लयको प्राप्त होगई है। इसी अपरिहार्य्य नियमके अनुसार जगद्विजयिनी प्राचीन यूनानीजाति रोमनशक्तिमें लयको प्राप्त होकर अब एक नूतन क्षुद्र-

जाति बन गई है। इसी नियमके अनुसार पुनः रोमनजातिका पूर्णरूपसे लोप होकर उसी भूमिमें एक नई इटालियन जातिका आविर्भाव हो गया है। भारतवर्षके अतिरिक्त और सब देशोंके इतिहास पाठ करनेसे यही प्रमाणित होता है कि जहां जहां जब कभी जेता-जातिकी गुरुशक्तिने किसी पराजित-जातिकी लघुशक्तिको अपने अधीन करलिया है तो शेषमें उस विजित-जातिका लोप ही होगया है। परन्तु भारतवर्षके आर्य्यगण आज प्रायः दो सहस्रवर्षसे नाना जातियोंके द्वारा विजित होने पर भी अभी तक पूर्णरूपसे अपने स्वरूपको नहीं भूल गये हैं; आर्य्यजातिका यह एक अपूर्व्व महत्व है।

सृष्टिके सब विभागोंकी रक्षा व क्रमोन्नतिके लिये ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन दोनों शक्तियोंकी आवश्यकता होती है। जातिगत जीवनकी रक्षा और उन्नतिके अर्थ भी इन्हीं दोनों शक्तियोंकी आवश्यकता है इन्हीं दोनों शक्तियोंके विचारसे ब्रह्मतेज और क्षत्रतेजका विभाग माना गया है। इन्हीं दोनों शक्तियोंको सात्त्विक-शक्ति और राजसिक-शक्ति भी कह सकते हैं। मनुष्यजातिकी उन्नतअवस्था और नत-अवस्थाके विचारसे इन शक्तियोंका तारतम्य हुआ करता है। प्राचीन आर्य्यजातिमें सात्त्विक-शक्तिका प्राधान्य था, परन्तु नवीन युरुपीयजातिमें राजसिक-शक्तिका प्राधान्य है। यह पूर्व ही कह चुके हैं कि किसी जातिकी शक्ति लघु होने पर ही वह दूसरी जातिसे नाशको प्राप्त हुआ करती है। आर्य्यजातिकी राजसिक-शक्ति यद्यपि लघु हो जाने

से आज सहस्राधिक वर्षसे यह जाति राजसिक हीनताको प्राप्त हो गई है, परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ है कि आज तक किसी सात्विक-शक्तिकी अधिकता रखनेवाली जातिने इसको परास्त कर लिया हो। आजतक जितनी विदेशीय जातियोंने इस भूमिको जय किया है उन सब जातियोंकी आध्यात्मिकविचाररूप सात्विकशक्ति इस आर्य्यजातिसे लघु है। इसी कारण राजसिक अवनतिकी पूर्णताको प्राप्त करने पर भी सात्विकशक्तिकी प्रबलता रहनेके कारण, यह आर्य्यजाति मृतप्राय होने पर भी अभी तक जीवित ही है। राजसिक शक्तिका नाश तो पहलेसे ही हो गया है, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अन्य जातियां आकर इस जातिको अपने अधीन कर सकी हैं। धर्म्मप्राण आर्य्यजातिको अपनी राजसिकशक्तिके नाशका विशेष विचार नहीं है। यदिच बुद्धिमान्गणको अभीतक इस प्रकारका भय तो नहीं उत्पन्न हुआ है कि आर्य्यजातिमेंसे सात्विकशक्ति भी जाती रहेगी, तथापि दूरदर्शी पुरुषगण अब बहुत कुछ सन्देह करने लगे हैं। सदाचार-पालनकी ओरसे आर्य्यजातिकी प्रवृत्ति दिन प्रति दिन तीव्रवेगके साथ घटती जाती है। हिन्दूधर्म्मसमाजसे विषय-वैराग्यका प्रवाह घट कर दिन प्रति दिन विषयतृष्णाका प्रबल वेग होता जाता है। अब भी आर्य्यगणमें धर्म्मकी मर्य्यादा बनी रहने पर भी कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों पर समान श्रद्धा नहीं दिखाई पड़ती। वर्णाश्रम-मर्य्यादा इतनी शिथिल हो गई है कि यथार्थ वर्णधर्म्म और आश्रमधर्म्मका आदर्शजीवन कदाचित् बहुत ही अन्वेषण

से दिखाई पड़ता है। साथ ही साथ नारीगणमें पति-सेवारूपी धर्मकी न्यूनता होकर विलासबुद्धि की वृद्धि हो चली है, और पश्चिमी शिक्षासे विकृतमस्तिष्क पुरुषगण नारीजातिकी पवित्रता नष्ट करनेके अर्थ अनार्यसेवित विधवाविवाह और स्त्रीस्वाधीनता आदिके प्रचारमें जहां तहां प्रवृत्त दिखाई देते हैं। आर्यनारीगणमें पति भक्तिका अभाव, आर्यपुरुषोंमें सत्यप्रियताका अभाव, और आर्यबालक-बालिकाओंमें पितृमातृभक्ति व गुरुजनोंमें भक्तिका अभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही दिखाई देता है। अन्तःशुद्धि जो सनातनधर्मका प्रधान लक्ष्य था उसका लोप होकर बाह्याडम्बरकी ओर इस जातिका अधिक लक्ष्य पड़ने लगा है। परोपकार-प्रवृत्ति, स्वजाति-अनुराग, स्वदेश-प्रेम, उत्साह, न्याय-दृष्टि, सरलता, पवित्रता, ऐक्य, आस्तिकता, शौर्य, पुरुपार्थ-शक्ति आदि मनुष्यजातिकी उन्नत गुणावलीका अभाव इस जातिमें दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है। गुणपरीक्षाकी शक्ति समाजमेंसे बिलकुल ही जाती रही है, समाजमें यहांतक लघुता आ गई है कि जो महापुरुष देशके लिये, जातिके लिये और अपने प्रिय सनातन-धर्मके लिये कदाचित् आत्मोत्सर्ग करते हैं उन्हींको लोग स्वार्थी, प्रवञ्चक और कपटी समझकर उनके साथ दुर्व्यवहार करनेमें प्रवृत्त होते हैं और समाजमें बाह्याडम्बरयुक्त स्वार्थी लोग धर्मसेवी माने जाते हैं। दूसरी ओर दैवकोप और मन्दभाग्यके लक्षणरूपसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूमिकम्प, दुर्भिक्ष और महामारी आदि प्रकोप इस आर्यजातिको ग्रसते

जाते हैं, जिनकी शान्तिके लिये कोई लौकिक उपाय नहीं बन पड़ते हैं। अतः आर्यजाति-भावमें नाना परिवर्तन देखकर और वर्णाश्रमधर्मियोंको शनैः शनैः अधोगतिको प्राप्त होते हुए अनुभव करके विद्वज्जन उद्विग्न हुए हैं और यही विचार कर रहे हैं कि इस निम्नगामी स्रोतको रोकने के लिये प्रबल यत्न होना उचित है।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीय-अध्याय।

व्याधिनिर्णय।

जिस प्रकार शरीरमें मस्तक सर्व्वश्रेष्ठ अंग समझा जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिसे भारतवर्ष इस पृथ्वीमें शीर्ष-स्थानीय समझा गया है। ज्ञानके विकाशसे ही सब जीवोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं; ज्ञानकी क्रमोन्नतिद्वारा मनुष्यकी क्रमोन्नति समझी जाती है; ज्ञानकी पूर्णतासे पूर्ण मनुष्यत्व माना गया है; और पूर्णज्ञानी मनुष्योंमें ही धर्मका पूर्ण विकाश हुआ करता है। भारतवर्ष ही धर्मकी आदि विकाशभूमि है। पूर्णप्रकृतियुक्त पूज्यपाद महर्षिगण तथा पूर्णशक्तियुक्त अवतारगणका आविर्भाव भारतवर्षमें ही हुआ है। भारतवर्षकी पूर्ण ज्ञानज्योतिकी सहायतासे ही अन्यदेशोंके धर्मसम्प्रदायोंकी पुष्टि हुई है; और अनादि-सिद्ध अभ्रान्त तथा पूर्णविज्ञानयुक्त सनातनधर्मका आविर्भाव भारतवर्षमें ही हुआ है। इसकारण विचारवान् मात्रको ही यह मानना पड़ेगा कि आध्यात्मिक विचारके अनुसार भारतवर्ष ही पृथ्वीका उत्तमाङ्ग है।

प्रकृतिकी पूर्णविकाश-भूमि भारतवर्ष, पृथ्वीके अन्यान्य खण्डोंमें मुकुटमणिरूप है; इसके तीन ओर अपार अनन्त जलराशि, और एकओर अनन्त सौन्दर्य्य-मय गगनभेदी अटल हिमाचल विस्तृत होरहा है। सुतरां प्रकृति देवी अपनी अतुलनीय शक्तिद्वारा इस पवित्र-भूमिको चारों ओरसे ही रक्षा कर रही है। जलकी ओर तो स्वभावसे ही पथ अति दुर्गम है एवं स्थलकी ओर दुर्गम

पार्वत्य-भूमिसंकीर्ण गिरिसंकट बहुत ही क्लेशोंके साथ न नाँघने पर कोई भी भारतवर्षमें नहीं प्रवेश कर सकता। भारतवर्षके बाहरसे दृष्टि डालने पर यही प्रतीत होता है कि इस पवित्र भूमिमें प्रवेश करना बहु-परिश्रम और अति क्लेशसाध्य है। परन्तु प्रकृति माताकी इतनी कृपा रहने पर भी वे इस भारतकी विजातीय आक्र-मणसे रक्षा नहीं कर सकीं। जबसे भारतवर्षमें राजसिक-शक्तिका लोप हुआ है तबसे नियमित रूपसे यह चिरस्वा-धीन आर्यजाति नाना विजातीय जातियों द्वारा विजित होती रही है। भारतवर्षकी भूमिकी अतुलनीय उर्वरा-शक्ति, भारतवर्षके पर्वतोंकी अमूल्य रत्नप्रसविनी-शक्ति, भारतवर्षके निकटवर्त्ती समुद्रगर्भकी अपूर्व मुक्ता-प्रवाल आदिकी उत्पादिका-शक्ति, भारतवर्षके वनोंकी नाना विचित्र जीव, जन्तु और नानाविचित्र, वृक्ष, लता, गुल्म आदि प्रसव करनेकी स्वाभाविक-शक्ति इस संसार में अतुलनीय है; इसी कारणसे इतने काल तक विजातीय राजगणद्वारा मर्दित और लुण्ठित होने पर भी अभी तक भारतभूमि श्रीहीन नहीं हुई है। भारतवर्षके इन अपूर्व ऐश्वर्य्योंके ही कारण अन्य नाना जातियोंने समय समय पर इस भूमिपर पूर्ण अधिकार जमानेका यत्न किया है; और उनमेंसे कई एक जातियां यत्नमें सफल-काम भी हुई हैं। भारतवर्षका इतिहास पाठ करनेसे यही विदित होता है कि मुसल्मानसाम्राज्यके पतन तक, गत दो सहस्र वर्षोंमें नौ विजातीय राजगणने स्थल-पथ द्वारा भारतवर्षमें अधिकार जमानेके अर्थ इस भूमिपर आक्र-

मण किया है। जिनमेंसे प्रजा और द्रव्यके नाशके विचारसे तो सब ही पूर्णमनोरथ हुए थे परन्तु केवल दो नरपति ही स्थायीरूपसे अपना अधिकार जमा सके; जिनके पुरुषार्थ द्वारा भारतवर्षमें मुसल्मानसाम्राज्यकी प्रथम अवस्थामें पठानसाम्राज्य और शेष भागमें मुगलसाम्राज्य स्थापित हुआ था। विजातीय एवं विधर्म्मी राजगण द्वारा यह आर्य्यजाति अतिपीड़ित होने पर भी अपने सात्विक बलके प्रभावसे उस समयमें पूर्ण हीनताको नहीं प्राप्त हुई थी। आर्य्यधर्म्मविरोधी एवं परजातिपीडनपक्षपाती मुसल्मान शासकगणके हाथसे असहनीय क्लेशोंको प्राप्त करने पर भी आर्य्यगणमें उस समयतक स्वजातीय भावका लोप न होनेके कारण वे उस समयके चारों ओर व्याप्त अत्याचाररूपी प्रज्वलित अग्निशिखामें भी अपने प्राणों की रक्षा करनेमें समर्थ हुए थे। सृष्टि, स्थिति और लय ये प्रकृतिके स्वाभाविक गुण हैं, इस अभ्रांत नियमके अनुसार उन्नतिके साथ अवनति अवश्यसम्भावी है। इसी अकाट्य प्राकृतिक नियमके अनुसार जब मुसल्मानसाम्राज्यकी राजसिक-शक्ति निस्तेज होगई और साथ ही साथ शासकोंका पाप अधिक रूपसे बढ़ गया, तो उनसे पीड़ित आर्य्यगणने पुनः अपनी राजसिक शक्तिकी वृद्धि करनेमें यत्न किया। उसी परिवर्तनके फलसे भारतवर्षमें मुसल्मानसाम्राज्यका नाश होकर महाराष्ट्रसाम्राज्य स्थापित हुआ, और उसी परिवर्त्तनके ही फलसे सिक्ख, गोरखा, महाराष्ट्र, राजपूत आदि जातियोंमें पुनः वीरता का लक्षण प्रकाशित हो गया। अधःपतित आर्य्यगणमें

राजसिक शक्तिका पूर्ण विकाश नहीं होने पाया था कि उस समय इस भूमिमें अपेक्षाकृत राजसिक शक्तिमें और भी उन्नत युरोपीय जातिका प्रभाव बढ़ने लगा। गुणोंका स्वभाव है कि स्वतः ही तमोगुण, रजोगुणसे और रजोगुण, सत्त्वगुणसे दब जाया करता है। उस समय पुनरुत्थित आर्य्यजातिमें राजसिक शक्तिका पूर्ण विकाश होने नहीं पाया था; अपिच राजसिक शक्तिमें विशेष उन्नत युरोपीय जातिको अपनी भूमिमें देख कर स्वतः ही उसने (आर्य्यजातिने) अपना साम्राज्य उसको सौंप दिया। युरोपीय जातिसमूहमें गुणकी श्रेष्ठतासे अंग्रेजजाति ही सर्वोत्कृष्ट थी, इस कारण सद्गुणोंका पुरस्काररूप यह रत्नश्रेष्ठ भारतवर्ष स्वतः ही उसको प्राप्त हो गया। इसी आधिदैविक कारणसे अंग्रेज गवर्न्मेंन्टको भारतवर्षमें साम्राज्य स्थापन करनेके अर्थ अधिकतर शारीरिक बलका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं हुई थी। कर्म्मकी अपूर्व्व गतिका ही कारण है कि जिस प्रकारसे घोरतर पाशव-बल-प्रयोगद्वारा मुसल्मानगणने पूर्वकालमें अपना साम्राज्य स्थापित किया था उस प्रकारसे गुणवान् अंग्रेज-जातिको पाशवबल का प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। मुसल्मानसाम्राज्यके अधःपतनके अनन्तर अधःपतित आर्य्यजातिके क्षीण राजसिक पुरुषार्थके समयमें स्वतः ही बुद्धिकौशलप्रयोग एवं आर्य्यजातिकी सहायतासे अंग्रेजसाम्राज्यकी प्रबलता स्थापित होगई और क्रमशः वे भारतवर्षके पूर्ण अधिकारको प्राप्त हो गये।

अनन्त कालसे* स्वाधीनतासुखको भोगनेवाली आर्य्यजाति थोड़े ही दिनसे हीनबल हो गई है। आर्यजाति की पराधीन-अवस्थाको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं यथा—प्रथम मुसलमानसाम्राज्यका समय और दूसरा अंग्रेजसाम्राज्यका समय। मुसलमानसाम्राज्यके समय में आर्य्यजाति बहुत ही अधःपतित हो जाने पर भी अपने स्वजातिभावको विस्मृत नहीं हुई थी। उस समयका इतिहास पाठ करनेसे यही प्रतीत होता है कि उस घोरतर आपत्कालमें भी यह आर्य्यजाति अपनी रीति, नीति, धर्म्म, कर्म, शिल्प, वाणिज्य, वेष, भाषा और सदाचार आदि अर्थात् निज आर्य्यभावोंको विस्मृत नहीं

* प्राचीन ग्रन्थोंके पाठ करनेसे विदित होता है कि पूर्वकालमें आर्य्यजाति इस प्रकारसे बहुतदिनोंके लिये हीनबल कभी नहीं हुई थी। जिसप्रकार प्राचीनकालके ज्ञानसे अपने प्राचीनत्वका ज्ञान आर्य्यजाति को है वैसा ज्ञान और किसी जातिमें नहीं पाया जाता। कालपरिमाण यथा—

लोकानामन्तकृत्कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चामूर्त उच्यते॥
प्राणादिः कथितोमूर्तस्त्रुट्याद्योऽमूर्तसंज्ञकः।
षड्भिः प्राणैर्विनाडीस्यात्तत् षष्ठ्या नाडिका स्मृता॥
नाडीषष्ठ्यातु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्तितम्।
तत्त्रिंशताभवेन्मासः सावनोऽर्कोदयैस्तथा॥
ऐन्दवस्तिथिभिस्तद्वत् सङ्क्रान्त्या सौर उच्यते।
मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदह उच्यते॥
सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात्।
तत् षष्टिः षड्गुणा दिव्यं वर्षमासुरमेवच॥
तद्द्वादशसहस्राणि चतुर्युगमुदाहृतम्॥

हुई थी। उसी साम्राज्यके समय श्रीरामानुजाचार्य्य, श्री मध्वाचार्य्य, श्रीनिम्बार्काचार्य्य, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीवल्लभाचार्य्य, श्रीचैतन्याचार्य्य, श्रीरामानन्दस्वामी, श्रीराम दास स्वामी, श्रीमधुसूदनाचार्य्य आदि धर्म्माचार्य्यगण प्रकट हुए थे। उसी साम्राज्यके समय आगरेके ताज और श्रीवृन्दावनके श्रीगोविन्ददेवजीके मंदिर आदिका स्थापत्यशिल्प और काश्मीरी शाल, ढाकाई मलमल, कटकके अलङ्कार और दिल्लीके नाना शिल्पोंका पूर्ण विकाश

सूर्य्याब्दसङ्ख्याया द्वित्रिसागरैरयुताहतैः।
सन्ध्यासन्ध्यांशसहितं विज्ञेयं तच्चतुर्युगम्॥
कृतादीनां व्यवस्थेयं धर्म्मपादव्यवस्थया।
युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते।
कृताब्दसङ्ख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः॥
ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः॥
इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरीतस्य तावती॥
कल्पादस्माच्च मनवो षड् व्यतीताः ससन्धयः।
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिधनो गतः॥
अष्टाविंशाद्युगादस्माद्यातमेतत् कृतं युगम्।
अतः कालं प्रसङ्ख्याय सङ्ख्यामेकत्र पिण्डयेत्॥
इत्यादि।

सूर्य्यसिद्धान्तशास्त्रानुसारेण कल्यब्द ४३२००० द्वापराब्द ८६४००० त्रेताब्द १२९६००० कृताब्द १७२८००० युक्तं ससन्धिमनुमानम् ४३२०००० इदं चतुर्दशगुणकल्पप्रमाणं कृतोनं युगसहस्रमित्यत आह।

हुआ था । उसी साम्राज्यके समय जयदेव, श्रीगोस्वामी तुलसीदास, श्रीकेशव, श्रीसूरदास, श्रीजगन्नाथ, श्रीविद्यापदी, श्रीचण्डीदास, श्रीरूपगोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीकेशवदास, श्रीक्षेमानन्द और नृपतिगणमेंसे श्रीमहाराणा कुम्भ, श्रीमहाराणा प्रतापसिंह, श्रीमहाराजा सावन्तसिंह अर्थात् नागरीदास आदि श्रेष्ठ कविगण जन्मे । उसी साम्राज्यके समय गोपालनायक, वैजूनायक हरिदास गोस्वामी और तानसेन आदि श्रेष्ठ सङ्गीताचार्य्यगणने उत्पन्न होकर अपूर्व आर्य्यसङ्गीतविद्याकी महिमाका पालन किया था; उनके द्वारा केवल आर्य्यजातिको ही लाभ नहीं पहुंचा था किन्तु सङ्गीतशास्त्रके महाद्वेषी मुसल्मानगण भी उस माधुरी विद्याके पक्षपाती हो गये थे । उसी साम्राज्यके समय भारतीय वाणिज्यका भी इतना विस्तार था कि जिसके लोभसे युरोपके सब उत्साही जातिसमूह भारतवर्षमें आनेके लिये सदा व्यग्र रहा करते थे । यह उसी वाणिज्यकी उन्नतिका कारण था कि जिसके कारण युरोपनिवासी भास्कोडिगामाने अतुलनीय योग्यता दिखा कर भारतवर्षके सीधे पथ का आविष्कार किया था, एवं यह उसी वाणिज्यकी उन्नतिका ही कारण है कि जिससे अंग्रेजजाति आज दिन भारतवर्षके पूर्ण अधिकारको प्राप्त हो गई है । उसी साम्राज्यके समयमें भारतवासी बहुत ही हीनवीर्य हो जाने पर भी अपने वेष-परिवर्त्तनके पक्षपाती नहीं हुए थे; साधारण शरीराच्छादन और उष्णीष (पगड़ी) आदि धारणकी यथावत् रीति भारतवर्षके सकल प्रदेशोंमें प्रचलित थी; परिच्छददृढताके विषयमें उस समय भारतवर्षका प्रभाव इतना

प्रबल रहा था कि जेता होने पर भी मुसल्मानगण क्रमश
अपने वेषोंका परिवर्त्तन करके आर्य्यवेषके पक्षपाती हे
गये थे। उस कालमें यदि च आर्य्यगणकी भाषामें बहुत
सा अन्तर पड़ गया था, और राजकार्य्य चलानेके अ
नई उर्दू भाषाकी सृष्टि हो गई थी परन्तु न तो अरबे
और फारसी भाषाका विस्तार अधिक हो सका था और
न आर्य्यगण अपनी भाषाके द्वेषी ही बने थे; अपि च य
उस समयके मनुष्यगणके चित्तकी दृढ़ताका ही कारण थ
कि जिससे भारतवर्षमें अरबी और फारसीका पू
विस्तार नहीं हुआ,वरन् जेतागणकी भाषामें ही परिवर्त्त
होकर नई उर्दू भाषाकी सृष्टि होगई थी। धर्म्मकी दृढ़त
के विषयमें तो उस समयके अनन्त प्रमाण पाये जाते हैं
घोर अत्याचारोंका वर्णन न करके केवल इतना ही कह
जा सकता है कि जिस महम्मदीयजातिने एक हाथ
कुरान और दूसरे हाथमें नङ्गी तलवार लेकर भारतशा
सनमें कमर कसी थी उसके सम्पूर्ण पुरुषार्थोंका प्रयोग हे
जाने पर भी आर्य्यगणके धर्म्मविचारोंमें कुछ भी अन्त
नहीं देखा गया था। आर्य्यसदाचारोंकी दृढ़तामें इसर
अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि जो जो भारती
क्षत्रिय नरपतिगण लोभ अथवा भयके वशीभूत होक
आचारहीनताको प्राप्त होने लगे थे और जो मुसल्मा
सम्राटोंके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापनपूर्वक पूर्ण बल
वान् हो गये थे, वे भी आर्य्यगणके निकट स्वसमाजमें अप
अपने सन्मानकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सके थे
दूसरी ओर महम्मदीय सम्राट्गणसे अति लांछित तथ
अति क्लेशित होने पर भी सदाचारी मेवाड़राजवंश

सकते हैं कि आर्य्य जाति ही पृथिवीकी अन्यान्य सकल जातियोंकी आदि और शिक्षागुरु है; धर्म्मकी उन्नति, वैज्ञानिक उन्नति, शिल्पकी उन्नति, संगीतविद्याकी उन्नति, युद्ध विद्याकी उन्नति, चिकित्साविद्याकी उन्नति, ज्योतिषविद्याकी उन्नति, दार्शनिक उन्नति, साहित्यकी उन्नति, समाजगत उन्नति और भाषागत उन्नति आदिके विषयमें भारतवर्ष ही सबसे प्रथम पूर्णाधिकारको प्राप्त हुआ था; तदन्तर उसकी ही ज्ञानप्रभा शिष्यपरंपरा द्वारा पृथिवी भरमें प्रकाशित हुई है। सूक्ष्म अनुसंधान द्वारा यह दृढ़ निश्चय हो चुका है कि भारतवर्षकी ज्ञानज्योति क्रमशः विस्तारको प्राप्त होकर यूनान (ग्रीस) देशमें पहुंची थी एवं तत्पश्चात् वही ज्योति रोमसाम्राज्यमें पहुंचकर युरोपको पूर्णरूपसे आलोकित कर सकी है; एवं प्राचीनकालमें, यहांकी ज्ञानज्योति द्वारा प्राचीन अरब और प्राचीन चीनवासीगणने योग्यता प्राप्त की थी, इसमें भी सन्देह नहीं। कराल कालकी विकराल गतिका पार नहीं। प्रायः दो सहस्र वर्ष हुए जो जाति पशुवत् थी अब वही जाति योग्यता प्राप्त करके अधःपतित आर्य्यजातिकी शिक्षागुरु होनेके लिये अग्रसर हो रही है, एवं अति प्राचीन काल से जो जाति जगद्गुरु नाम से प्रसिद्ध थी उसी आर्य्यजातिकी वर्तमान हीनावस्था देखकर पृथिवीकी अन्यान्य जातियाँ उपहासपूर्वक अंगुली उठाने लगी हैं।

अनुकरणशून्यता और एकताके न होनेसे जातीयभावकी उन्नति नहीं हो सकती; एवं विना जातीय भाव की रक्षाके कोई जाति चिरकालपर्य्यन्त जीवित नहीं रह सकती। स्वजातीय ऐक्यका अभाव और परजातीय

अनुकरणकी वृद्धि द्वारा आज दिन अपनी आर्य्यजाति इतनी हीनताको प्राप्त हो गई है कि जिसकी गतिको देख कर स्वदेशहितैषी बुद्धिमान्‌जनगणमात्र ही अब सशंकित होने लगे हैं। पूर्वकालमें आर्य्यजातिने सात्त्विक शक्तिका कुछ अंश प्रबल रहनेके कारण अपने जातीय भावकी रक्षा की थी; उस कालमें इस जातिमेंसे यद्यपि राजसिक शक्तिका नाश हो गया था परन्तु स्वधर्म्मरूपी सात्त्विक शक्तिकी पूर्णरूपसे न्यूनता न होनेसे ही इसमें स्वजातिभावकी न्यूनता नहीं हुई थी। परन्तु अब दिन प्रतिदिन इस जातिमेंसे स्वजातिभावका लोप होते हुए देखकर बुद्धिमान्‌जनोंको यही सन्देह होने लगा है कि हो न हो अब आर्य्यजातिमेंसे सात्त्विक तेजका भी नाश होने लगा। यह सन्देह निर्मूलक नहीं है। इस वर्त्तमान शान्तियुक्त साम्राज्यमें अभी तक जातीयभावकी कोई भी उन्नति नहीं देख पड़ती। इस बीच में ऐसे कोई धर्म्मोद्धारक नहीं प्रकट हुए कि जिनको हम धर्म्माचार्य्य करके मान सकें। यदिच किसी एक दो पुरुष द्वारा कोई कोई नवीनधर्म्मसम्प्रदायकी सृष्टि हुई है परन्तु उनमें ऐक्यका अभाव, सदाचारोंका अभाव, शक्तिका अभाव, और ईश्वरभक्तिका अभाव आदि न्यूनताके कारण उन आचार्य्योंको यथार्थरूपसे धर्म्माचार्य्य नहीं कह सकते। इस साम्राज्यमें यदि च गवर्न्मेन्टकी सहायतासे इस भूमिमें स्थापत्यशिल्पके बहुत कुछ नवीन चिन्ह देख पड़ते हैं; प्रजाहितकारिणी गवर्न्मेन्टकी कृपासे यदि च रेलवे लाइन, तार लाइन, नाना वृहत्‌सेतुसमूह, एवं नाना यंत्रागार व

विविध अट्टालिकासमूहका दर्शन हो रहा है; परन्तु उस प्रकारकी शिल्पोन्नतिके विषयमें आर्य्यजातिका व्यक्ति-गत सम्बन्ध कुछ भी नहीं पाया जाता। उन शिल्प-नैपुण्यके कार्य्योंमें भारतवर्षके मनुष्योंने केवल परिश्रम-जीवियों (कुली मज़दूरों) का ही काम दिया है; यथार्थ पक्ष में उन शिल्पसम्बन्धीय कार्य्योंसे भारतीय-शिल्पकी उन्नतिका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस बीच में अनुक-रण प्रिय बाबू लोगोंमेंसे ऐसे कई एक ग्रन्थरचयिता और वक्ता प्रकट हुए हैं और उन्होंने अपनी योग्यता अंग्रेजी भाषामें इतनी दिखाई है कि जिससे अंग्रेज गण भी चकित हो गये हैं; परन्तु सत्य कथनके अनुसार अभी तक स्वभाषाके कोई भी ऐसे ग्रंथरचयिता अथवा सुकवि नहीं प्रकट हुए जिनसे हम ऐसा समझ सकें कि अभी तक हमारी आर्य्यजातिमें भाषागत जीवन बना हुआ है। यद्यपि इस बीचमें भी कई एक साधारण कवि और खिचड़ी-हिन्दी के कई एक ग्रन्थरचयिता प्रकट हुए हैं, और वङ्ग तथा बम्बई आदि प्रदेशोंमें भी कई एक वहांकी भाषाके नूतन कवि दिखाई दिये हैं, परन्तु उनके ग्रन्थ-समूह द्वारा जातिगत भाषा, जातिगत जीवन और जातिगत धर्म्मके सन्मानकी रक्षा नहीं हुई है। अपने यहां साहित्यके साथ सङ्गीतका विशेष सम्बन्ध रहनेके कारण, उसकी ओर दृष्टि डालने पर भी यही कहना पड़ैगा कि सङ्गीत–विद्याका तो अब अपने समाजसे लोप ही हो गया है। मुसलमानसाम्राज्य के समय की आर्य्य-जातिकी अवस्थाके साथ एक शत वत्सरकी अवस्थाकी

तुलना साधारण भावसे स्थूल उदाहरणों के द्वारा की जाती है; सूक्ष्म भावसे देखने पर इस विचारकी सत्यता विशेषरूपसे परिलक्षित होगी। इस समयमें भारतवर्षके वाणिज्यकी जैसी कुछ क्षति हुई है सो आबालवृद्ध सब पर ही प्रकट है। जिस शिल्प और वाणिज्यकी उन्नतिसे भारत जगत्में प्रसिद्ध हुआ था, भारतके जिन शिल्प और वाणिज्यके लोभसे उद्यमशील युरोपवासीगण इस भूमिमें आने को लोलुप हुये थे, उन शिल्पों का अब इस भूमिमें नाममात्र भी नहीं रहा। बुद्धिमान् मात्र ही इस विषयको स्वीकार करेंगे कि अब भारत-वर्षके प्राचीन शिल्पोंकी पूर्णरूपसे हानि होगई है और यहांका प्रधान वाणिज्य अब विदेशियोंके हाथमें ही रह गया है। यहींसे रूई भेज कर और साथ ही साथ पूरी "दक्षिणा" देकर तब आर्य्यजाति वस्त्राच्छादन द्वारा अपनी लज्जा निवारण कर रही है; गृहस्थीके पदार्थोंके विषयमें यही कहा जा सकता है कि अब एक सूची (सूई) से लेकर पर्यङ्क (पलंग) पर्यन्त सब सूक्ष्म और वृहत् द्रव्य विदेशीय ही देख पड़ते हैं, यहां से अमूल्य रत्नसमूहको भेज कर विदेशीय काच-निर्मित द्रव्यसमूह द्वारा अब आर्य्यजातिकी गृहशोभा बढ़ाई जाती है। वस्तुतः शिल्प और वाणिज्यके विषयमें अब इस आर्य्यजातिकी ऐसी हीन अवस्था होगई है कि यदि आज विदेशीगण अपने शिल्प और वाणिज्य द्वारा इस जातिकी सहायता न करें तो यह जाति कदापि अपने मनुष्यत्व की रक्षा करनेमें समर्थ न हो

सकेगी । इस समय अब अपने जातीय वेषका तो कुछ नियम ही नहीं रहा । ब्राह्मणसे लेकर अन्त्यज पर्य्यन्त, एवं राजा महाराजागण से लेकर एक सामान्य दरिद्र प्रजा पर्य्यन्त सब ही विदेशीय वेष के पक्षपाती देख पड़ते हैं ; वस्तुतः हमारे आर्य्यगणमें अब ऐसी प्रमादयुक्त रीति देखनेमें आ रही है कि विद्वानोंसे लेकर मूर्खपर्य्यन्त सब ही व्यक्ति-गत वेषका कुछ भी विचार न कर एकमात्र विदेशीय वेष "कोट, पतलून और हैट" आदिकी सन्मानरक्षा करनेमें तत्पर देख पड़ते हैं। अंगरेज़ी भाषाके अद्वितीय ग्रन्थकर्त्ता "सदे" (Southey) साहबने लिखा है कि, "हमलोगोंकी भाषा एक अति महत् और सुन्दर भाषा है । अंगरेजी और जर्मन् भाषाओंमें परस्पर ज्ञातित्व सम्बन्ध रहनेके कारण जर्मन् भाषाके शब्दोंका व्यवहार करनेके लिये मैं क्षमा कर सकता हूं, परन्तु जहां कहीं किसी अंगरेजी भाषाके शब्दसे काम निकल सकता हो वहां यदि कोई लाटिन अथवा फ्रेञ्च भाषाका शब्द व्यवहृत करे तो मातृ-भाषाके प्रति विद्रोहाचरण करनेके पापसे उसको फांसी देकर अथवा उसका शरीर खण्ड विखण्ड करके उसको मृत्युका दंड देना उचित है" । विदेशीय पण्डितगण की अपनी स्वभाषाके लिये ऐसी सम्मति है; परन्तु हमारी आर्य्यजातिमें अब यह प्रवाह देखनेमें आता है कि दिन प्रति दिन भारतवासीगण अपनी मातृभाषाका त्याग करके विजातीय भाषाके ग्रहण करनेमें अपने आपको सन्मानित समझने लगे हैं । इस समय अंगरेजीशिक्षित आर्य्यगणके कथोपकथनको सुनकर हृदयमें असहनीय क्लेशका उदय

हुआ करता है कि या तो वे विदेशीय भाषामें ही वाक्यालाप करना योग्य समझते हैं, अथवा यदि अपनी स्वभाषामें अपने मनोगत भावोंको प्रकट करने लगते हैं तो विना विदेशीय भाषाकी सहायताके वे अपने मनोगत भावोंको पूर्णरूपसे प्रकट ही नहीं कर सकते। इससे इतना कुफल होने लगा है कि अब वास्तवमें अपनी मातृभाषाका नाश अंग्रेजी शिक्षित समाजमें हो चला है; पिता पुत्रको, पुत्र पिताको, स्त्री पतिको, पतिस्त्रीको मित्र मित्रको और भ्राता भ्राताको विदेशीय भाषामें ही पत्र लिखना उपयोगी, हितकारी और सुविधाजनक समझने लगे हैं। एक विचित्रता और भी यह देख पड़ती है कि स्वनाम लिखते समय विदेशीय भावों का ही अनुकरण किया जाता है (यथा रामलालका R, Lal, वा उदय सिंहका U. Singh, ब्रजमोहन शर्माका B.M.Sarma, और महेन्द्रनाथ मित्रका M. N. Mitra, इत्यादि) और चाहे विदेशीय भाषा कुछ भी न आती हो परन्तु नाम सही करनेका तो विदेशीय भाषामें ही अभ्यास कर लिया जाता है।

जिस आर्य्यजातिका प्रधान बहिश्चिन्ह शिखा और सूत्र है, जिन चिन्होंके साथ द्विजगणके आध्यात्मिक लक्ष्यका साक्षात् सम्बन्ध रक्खा गया है उस आर्य्यजातिके वर्तमान पथप्रदर्शक अंग्रेजीशिक्षाभिमानी पुरुषगण सूत्रका धारण करना अथवा शिखाका रखना लज्जा-जनक समझने लगे हैं। प्रमाद-वृत्तिकी अपूर्व लीला देखकर कभी तो चित्तमें हास्य-रसका उदय होता है, और कभी घोरतर

करुणरससे हृदय विदीर्ण होने लगता है। जो जाति एक दिन उन्नतिकी पराकाष्टाको प्राप्त करके जगत् में आदिगुरु कहलाई थी, हाय आज उसीकी ऐसी हीन अवस्था देखनेमें आती है। जब आर्य्यजातिके वर्तमान सदाचारों पर दृष्टि डाली जाती है तो और भी हृदय विदीर्ण होने लगता है। यह सदाचारहीनताका ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आज दिन क्या राजा, क्या प्रजा, क्या ब्राह्मण, क्या शूद्र, प्रत्यक्षरूपसे अपने धर्म्मकी निन्दा करने पर भी, विरुद्ध आचारोंको ग्रहण करने पर भी एवं अपने सदाचारोंका नाश करके अन्य जातिका उच्छिष्ट भोजन करने पर भी अपनी जातिमें निन्दनीय नहीं होते; जिसके कारण सकल वर्णोंमें स्वेच्छाचारका प्रवाह दिन प्रतिदिन प्रबल होता चला जाता है*। इस सदाचारोंकी हानिका इस प्रकार धर्म्मविदारक फल दृष्टि-गोचर होने लगा है कि आर्य्यजातिके पुरुषोंकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञा दूर होकर उनमें "बाबू साहब" रूपी एक नूतन संज्ञाकी सृष्टि हो गई है; एवं स्त्रीगणमें सहधर्म्मिणीभावका लोप होकर "सहचारिणी" भावकी रीति प्रचलित हो गई है। इस प्रकारसे आर्य्यजाति-गत जीवन पर जितनी दृष्टि डाली जाती है उतना ही क्लेश

* प्राचीनकाल में चारों वर्णोंके द्वारा चार प्रकारका अनुशासन भारतवर्ष में प्रचलित था। यथा, ब्राह्मणोंका वाग्दण्ड, क्षत्रियोंका राजदण्ड (शरीर और धनसम्बन्धी), वैश्योंका व्यवहारदण्ड और शूद्रोंका सेवादण्ड। अब इन चार प्रकारके दण्डोंकी रीति तथा शक्ति हमारे समाज में से सर्वथा लुप्त ही हो गई है।

से हृदय विदीर्ण होता है। यह सब विचार करके चिन्ताशील पुरुषोंने यह सिद्धान्त किया है कि अनुशासनके अभावसे ही सामाजिक रोग इतना बढ़ता जाता है। आर्य्यजातिकी आधिभौतिक और आध्यात्मिक अवनति तथाक्लेशके बहुत प्रमाण कहे गये। अब इस जाति और समाज तथा इस जातिकी निवास-भूमि पर जो घोर आधिदैविक विपत्ति हो रही है उस पर विचार करनेसे स्वदेशहितैषियोंका सन्देह एकवार ही दूर हो जायगा। घोर मर्म-भेदी बहुकालस्थायी दुर्भिक्षने भारतवर्षको ग्रस लिया है, महामारीकी तो भारतभूमि चिरवास-भूमि बन गई है। प्रतिदिन प्रजाका क्षय और अधोगति हो रही है। प्रजाकी अधर्म्मप्रवृत्ति और दुर्गतिके कारण ही देशमें पंचतत्त्वोंमें विकार होकर ऋतुविपर्य्यय आदि दोषोंके कारण विराट् पुरुषको पीड़ा उत्पन्न हुआ करती है*। अतएव भारतवर्षकी नाना आधिदैविक विपत्तियों पर विचार करने पर भी यही सिद्धान्त होगा कि आर्य्य-जाति अब कर्म-भ्रष्ट, तपो भ्रष्ट, धर्म्म-भ्रष्ट, आचार-भ्रष्ट और शक्ति-भ्रष्ट होकर हीन-दशाको प्राप्त हो गई है।

विचार द्वारा यह अनुमान में आ सकता है कि नाना प्रकारसे लांछित और पीड़ित होने पर भी मुसल्मान-साम्राज्यके समय इस आर्य्यजातिके सात्त्विक तेजकी इतनी क्षति नहीं हुई थी जितनी इस समयमें प्रतीत होती

* विराड् धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना ।
तदङ्गावयवस्थास्यजनजालस्य वैसमम् ॥
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातमायान्ति ॥ इति श्रीवशिष्ठवचनम् ।

है। बुद्धिमान्, गुणग्राही और उद्यमशील अंग्रेज जातिने अपनी स्वाभाविक उदारताके कारण आज दिन इस आर्य्यजातिको अपेक्षाकृत बहुत कुछ स्वाधीनता और शांति-सुख दान कर रक्खा है परन्तु तमोगुणप्राप्त आर्य्य-सन्तानगण उस स्वाधीनता और शांतिसे कुछ भी लाभ न उठा कर अधिकन्तु अपनी प्रमादबुद्धिके कारण दिन प्रतिदिन और भी हीनदशाको प्राप्त होते जाते हैं। पूर्वोक्त ऐतिहासिक प्रमाणसमूह द्वारा बुद्धिमान् जन गण मात्र ही विचार कर सकते हैं कि मुसल्मानसाम्राज्यके समयमें आर्य्यजातिकी जिस प्रकारकी चित्तकी दृढ़ता अपने स्वजातीय भावोंकी रक्षा करनेके अर्थ थी, एवं उस समयके जातिगत लक्षण द्वारा जिस प्रकार उसके सात्त्विक तेजका प्रमाण पाया जाता था सो अब इस वर्त्तमान साम्राज्यमें दृष्टि-गोचर नहीं होता है। वर्त्तमान साम्राज्यकी उदारता और कृपासे यद्यपि इस जातिको शांति और सुअवसरकी प्राप्ति हुई है, विद्यानुरागी बृटिश गवर्न्मेंएटकी सहायतासे यद्यपि यह जाति अंग्रेजीभाषा-शिक्षापथमें विशेष अग्रसर हुई है तथापि न जाने किस दैव कारणसे यह जाति दिन प्रति दिन अपने जातिगत सन्मानकी रक्षा के विषयमें हीन ही होती चली जाती है। इस जातिकी न तो अब अपनी मातृभाषाकी उन्नतिकी ओर दृष्टि है और न इस जाति में स्वदेशीय शिल्पकी उन्नति ही देख पड़ती है; वैदिक धर्म्मका यथार्थ स्वरूप और आर्य्यसदाचार का तो इतना लोप हुआ है कि जिससे इस जातिमेंसे धर्म्म और सदाचारके बहिश्चिन्ह तक लुप्त होने लगे हैं। जातिगत उन्नतिके लक्षण गुण-

पक्षपात, पुरुषार्थशक्ति और ज्ञान हैं, इस विज्ञानके अनुसार कहना होगा कि जातिगत अवनतिके लक्षण दोषदर्शनप्रवृत्ति, आलस्य एवं अज्ञान हैं। आर्य्यजातिमें यद्यपि पुराकालमें उन्नतिके लक्षण विद्यमान थे किन्तु इस समय केवल अवनतिके लक्षण ही देखे जाते हैं। तिरस्कार और पुरस्कारके द्वारा जातिगत भावोंकी रक्षा हुआ करती है, अर्थात् अपनी स्वजातिगत रीतिके अनुसार प्रत्येक मनुष्यसमाज अपने समाजके मनुष्योंके अहित आचरणोंके तिरस्कार और उत्तम आचरणोंके पुरस्काररूप सन्मानप्रदान द्वारा अपने जातिगत भावोंकी रक्षा किया करता है। परन्तु भारतवर्षमें घोर शोक एवं भयका कारण अब यह उदय हुआ है कि हमारी आर्य्यजातिमेंसे जातिगत-पुरस्कार अथवा जातिगत-तिरस्कार दोनों प्रकारोंकी ही रीति एक बार ही लुप्त हो गई है। इस जातिके मनुष्योंको न तो अब पिता माता व कुटुम्बके लोगोंकी लज्जाका विचार है और न समाजमें निन्दनीय होनेका ही कुछ भय है; फलतः जातिगत-बन्धनकी शिथिलताके कारण अब मनुष्यगण निरंकुश अवस्थाको प्राप्त होकर बहुत हीन दशाको प्राप्त करते जाते हैं। जिस आर्य्यजातिके लक्ष्य स्थिर कराने के अर्थ श्रीभगवान्ने स्वयं आज्ञा की है कि मैं पुरुषोंमें पुरुषार्थरूप (पौरुषं नृषु) हूं, जिस जातिमें प्राचीन कालके निवृत्ति-पथगामी वानप्रस्थ और सन्न्यासिगण तक केवल संसार-हितकर कार्य्योंमें लिप्त रह कर एकमात्र पुरुषार्थके अवलम्बन द्वारा कर्म्मयोगी हो अपनी जीवनयात्राका निर्वाह

किया करते थे, उसी आर्य्यजातिमें अब निवृत्तिसेवी सन्यासियोंका तो कहना ही क्या है प्रवृत्तिमार्गके अधिकारी गृहस्थगण तक आलस्यग्रसित होकर उद्यमहीन हो गये हैं। ब्राह्मणोंमें तप और त्यागका नाश होकर आलस्य और लोभकी प्रकृति बढ़ गई है, क्षत्रियोंमें शौर्य्यका नाश होकर घोर कामासक्तिकी वृद्धि हुई है, वैश्यगण उद्यमही होनकर निर्धन हो गये हैं, शूद्रगण सेवा-धर्म्म छोड़ कर अनधिकारचर्चामें प्रवृत्त दिखाई देते हैं, संस्कृत विद्याके पारदर्शी विद्वान्गण आचार-हीन और धर्म्मज्ञानविहीन हो रहे हैं और राज-भाषा अंग्रेजीके ज्ञाता पुरुषगण शास्त्रश्रद्धाविहीन, स्वेच्छाचारी और अनार्य्यभावापन्न होते जाते हैं। कलि-युगमें दानधर्म्म प्रधान होने पर भी धनाढ्य पुरुषगण केवल नामके लिये और राजसन्मानकी प्राप्तिके लिये ही दान किया करते हैं। सब ओर ही इस प्रकार नाना विपरीत लक्षण दिखाई दे रहे हैं।

मुसल्मानसाम्राज्यके समय आर्य्यजातिका प्रारब्ध मन्द होनेके कारण उस साम्राज्यके द्वारा इस जातिको बहुत कुछ क्लेश सहना पड़ा था, तथापि उस समय इस जातिका पुरुषार्थ धर्म्मानुकूल था। उस समयके ऐतिहासिक प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि उस समय इस जातिमें सात्त्विक तेज बना हुआ था, और उसीके कारण आर्य्यजातिके जातिगत जीवनकी सफलता पाई जाती थी। परन्तु इस ब्रिटिशसाम्राज्यके कालमें यद्यपि आर्य्यजाति का प्रारब्ध सम्पूर्ण अनुकूल प्रतीत होता है; क्योंकि वर्त्तमान कालमें इस प्रकारके

देशकालज्ञ और गुणग्राही साम्राज्यकी सहायता मिलना बहुत ही आशा और शांतिजनक है तथापि आर्य्यजाति दिन प्रतिदिन हीनमति होती हुई अपनेमेंसे सात्त्विक तेजके नाशके साथ ही साथ अपने जातिगत भावोंको शिथिल करती हुई अति दुर्दशाको प्राप्त होती जाती है। यह देख कर चिन्ताशील एवं दूरदर्शी महात्मागण सदा चिन्तित रहते हैं। उनका यही सिद्धान्त है कि मुसल्मानसाम्राज्यके समय आर्य्यजातिमेंसे राजसिक शक्तिका ह्रास हो गया था; परन्तु उस समय इस जातिमें सात्त्विक शक्तिके बहुत से लक्षण विद्यमान थे, किन्तु इस समय आर्य्यजातिमेंसे रही सही सात्त्विक शक्ति भी क्रमशः लुप्त होती जाती है और चारों ओर केवल सर्वनाशकारी तमोगुणका प्रभाव ही बढ़ता जाता है, जिससे निःस्वार्थप्रेमी आर्य्यगणकी सन्तति अब घोर स्वार्थान्ध हो रही है। वास्तवमें आर्य्यजातिमें ऐसे अति कठिन रोग की उत्पत्ति हुई है; अतः अति शीघ्र ही उसकी उचित चिकित्साकी आवश्यकता है।

इति तृतीयोऽध्यायः।

चतुर्थ-अध्याय।

औषधिप्रयोग।

सफलताका वीजमंत्र नियम है। अनुशासनके द्वारा ही नियमकी रक्षा हुआ करती है। यह प्राकृतिक अनुशासनका ही कारण है कि सूर्य्यदेवके उदयास्तसे नियमित रूपसे दिन और रात का समागम होता है। यह दैवानुशासनका ही कारण है कि जीवोंकी आवश्यकताके अनुसार पवनदेव वायु का संचार करते हैं, वरुणदेव नियमित समय पर जल बरसाते हैं और षट्ऋतु अपने अपने समय पर प्रकट होकर जीवोंकी पुष्टि तथा आनन्दवर्द्धन करते हैं। यह प्रकृति माताके अनुशासनका ही कारण है कि वृक्ष, लता, गुल्म, औषधि आदि नियमित समय पर मनोमुग्धकर पुष्पोंसे सुसज्जित होते हुए नियमित समय पर ही जीवोंको फलदान किया करते हैं। यह राजानुशासनका ही फल है कि प्रजा शान्तिसुखका उपभोग करती हुई संसारयात्रामें अग्रसर होती है। यह वेदानुशासनका ही फल है कि धार्म्मिकगण साधनमार्ग द्वारा क्रमोन्नति करते हुए अन्तमें दुर्लभ मुक्तिपदको प्राप्त कर लेते हैं, और यह एकमात्र अनुशासनका ही फल है कि प्रजा राजाके और राजा प्रजाके हितचिन्तन द्वारा मनुष्यसमाजका कल्याणसाधन किया करते हैं। अतः मनुष्योंकी क्रमोन्नतिके अर्थ अनुशासनकी अत्यन्त आवश्यकता है। पूज्यपाद, त्रिकालदर्शी, विज्ञानवित् महर्षिगणने अनु-

शासनको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त किया है; यथा—योगानुशासन, शब्दानुशासन और राजानुशासन। राजानुशासन शब्दानुशासनके ही अन्तर्गत होनेके कारण इन दोनों प्रकारके अनुशासनोंका वर्णन स्मृतियोंमें एक साथ पाया जाता है। त्रिगुणात्मक प्राकृतिक प्रवाहके अनुसार इस संसारमें त्रिगुणभेदसे मनुष्यगणकी प्रवृत्ति भी तीन प्रकारकी हुआ करती है। एवं स्वाभाविकरूपसे मानुषीसृष्टिमें तीन विभिन्न प्रकारकी प्रवृत्ति रहनेके कारण जीवगणकी रक्षा, उनकी क्रमोन्नति और उनके परमकल्याणसाधनार्थ अपौरुषेय वेदोंमें त्रिविध अनुशासनका वर्णन पाया जाता है। सात्त्विक मनुष्योंके लिये योगानुशासन है, राजसिक मनुष्योंके लिये शब्दानुशासन तथा तामसिक अधम जीवों के लिये राजानुशासन विहित है। अस्तु, गृहस्थाश्रममें इन्हीं पिछले दो प्रकारके अधिकारियोंकी अधिकता होनेके कारण इन दोनों अनुशासनोंका वर्णन पूज्यपाद महर्षिगणने एक स्थानमें ही किया है। इन्हीं तीन प्रकारके अनुशासनोंके द्वारा मनुष्यगण अपने अपने अधिकारके अनुसार नियमित रूपसे क्रमोन्नति करते हुए अन्तमें परमपदको प्राप्त किया करते हैं। प्रत्येक साधकके लिये अनुशासनकी आवश्यकता है, विना अनुशासनके अधीन हुए कोई भी मनुष्य क्रमोन्नति नहीं कर सकेगा। अतएव अपने अपने गुणाधिकारके अनुसार यथायोग्य अनुशासन की अधीनता स्वीकार करनेसे ही मनुष्य क्रमशः उन्नत हो सक्ता है।

त्रिगुणविचारसे मनुष्यबुद्धिके तीन भेदोंके विषयमें श्रीगीताजीमें वर्णित है कि प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य्य, अकार्य्य, भय, अभय, बन्ध, मोक्षका जिसके द्वारा यथार्थरूपसे निर्णय किया जाय उसको सात्त्विकी बुद्धि कहते हैं। जिसके द्वारा धर्म्म, अधर्म्म, कार्य्य, अकार्य्य यथावत् परिज्ञात न हों उसको राजसी बुद्धि कहते हैं, और जिसके द्वारा अधर्म्मको धर्म्म समझा जाय तथा सब विचारोंमें विपरीत लक्ष्य हो उस अज्ञानाच्छादित बुद्धिको तामसी कहते हैं*। फलतः सात्त्विक-बुद्धिमें आत्मा का पूर्ण प्रकाश प्रतिविम्बित होनेके कारण उसमें भ्रम होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती; इस कारण सात्त्विक अधिकारी ही विज्ञानाधिकाररूपी योगानुशासनको प्राप्त करके स्वाधीन हो सक्ता है। परन्तु राजसिकबुद्धिमें विचारशक्ति रहने पर भी एकाएक सत्-असत्का निर्णय करनेकी शक्ति

---

* प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्म्ममधर्म्मञ्च कार्य्यञ्चाकार्य्यमेव च।
न यथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्म्मं धर्म्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी"।
इति गीतोपनिषद्।

† योगानुशासनं प्रज्ञा शब्दो बुद्धिः प्रकीर्त्तितः।
अन्तर्बहिःप्रकाशाय विज्ञानज्ञानहेतुकम्॥
इति विज्ञानभाष्ये।

नहीं रहती, इस कारण उस समय साधकके लिये शब्दानुशासनरूप वेद और वेदसम्मत शास्त्र ही अवलम्बनीय हुआ करते हैं। किन्तु तामसिक-बुद्धिके निम्न अधिकारियोंमें सदा विपरीत-ज्ञान रहनेके कारण उनके लिये पाशवबलप्रयोगकी आवश्यकता रहती है, इस कारण उनके कल्याणार्थ राजदण्डविधानकारी राजानुशासनकी आवश्यकता हुआ करती है। इन तीनों अनुशासनोंमेंसे प्रथम दोनोंको मुख्य और तृतीय राजानुशासनको गौण समझना उचित है; इसी कारण विज्ञानवित् शब्दानुशासनके अन्तर्गत ही राजानुशासनको मान लिया करते हैं; अतः वेदप्रतिपाद्य स्मृति शास्त्रोंमें ही उन दोनोंका विस्तृत विवरण पाया जाता है। सात्त्विक-बुद्धिसम्पन्न, स्वाधीनपदप्राप्तिके उपयोगी श्रेष्ठ अधिकारियोंको योगानुशासनका पूर्ण अधिकार प्राप्त करवानेके अर्थ महर्षियोंमें अग्रगण्य योगिराज महामुनि पतञ्जलिजीने "अथ योगानुशासनम्" कह कर योगशास्त्रका वर्णन किया है, एवं उन्हीं विद्वज्जनशिरोमणि महर्षिजीने आगमनिगममें प्रवेशके द्वाररूप व्याकरण शास्त्रका "अथ शब्दानुशासनम्" वाक्य द्वारा प्रारम्भ किया है। योगानुशासन सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञान है, इस कारण महर्षिजी ही उस शास्त्रको सूत्रद्वारा पूर्णरूपसे वर्णन कर सके हैं। किन्तु शब्दानुशासनका विस्तार अनन्त है, इस कारण वेद और शास्त्रोंका विस्तार भी अनन्त है; फलतः त्रिकालज्ञ महर्षिजीने केवल उस शब्दानुशासनका द्वार खोल दिया है।

ज्ञानभूमिके भेदसे योगानुशासनकी दो अवस्थाएं मानी गई हैं। इसी कारण ज्ञान और विज्ञानके तारतम्य से योगीको परोक्षानुभूति और अपरोक्षानुभूतिरूप यथाक्रम अधिकार प्राप्त होता है*। उन्नत योगिराजगण ही योगानुशासनके इन दोनों भावोंकी पृथक्ता समझ सक्ते हैं। योगानुशासनके पूर्ण अधिकार प्राप्त होने पर योगिराज सर्वज्ञ हो जाते हैं, उस समय उनके द्वारा कोई भ्रम अथवा प्रमादका कार्य्य होना सम्भव ही नहीं होता; तब वे केवल भगवद्कार्य्य ही करते रहते हैं। अतः योगानुशासनरूपी उन्नत अधिकारका विचार करनेकी इस समय अधिक आवश्यकता नहीं है।

आचार्य्य-आज्ञा और शास्त्र-आज्ञाके भेदसे शब्दानुशासनके भी तत्त्वदर्शियोंने दो भेद किये हैं। अभ्रान्त और पूर्णविज्ञानयुक्त भगवद्वाक्यही वेद† हैं; उन वेदोंकी आज्ञा तथा वेदसम्मत स्मृति आदि शास्त्रोंकी आज्ञा को ही शब्दानुशासन कहते हैं। और गुरु तथा आचार्य्य की आज्ञा भी शब्दानुशासनमें प्रधान अवलम्बनीय है‡।

* इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
इति गीतोपनिषद्।

† प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥ इति स्मृतिः।

‡ धर्म्ममूलं मनुष्याणां स चाचार्य्यावलम्बनः।
तस्मादाचार्य्यमुमणेः शासनं सर्व्वतोऽधिकम्॥
इति श्रीभगवान् शंकराचार्य्यः।

इस प्रकार से दोनों प्रकारके शब्दानुशासन रजोगुण-प्रधान अधिकारियोंके कल्याण करनेके अर्थ माने गये हैं।

यद्यपि हमारे वेद और शास्त्रोंमें जीव-हितकारी सब कुछ आज्ञाएं पाई जाती हैं, क्योंकि हमारे वेद और वेदसम्मत शास्त्र पूर्णविज्ञानयुक्त हैं, तथापि लोक-हितार्थ आचार्यानुशासनको ही प्रधान अवलम्बन समझ सक्ते हैं। वेद तथा शास्त्रोंके यथार्थ रहस्यका ज्ञान सब मनुष्योंको नहीं हो सक्ता, विशेषतः शास्त्रका ज्ञान होने पर भी अपने अपने अधिकारके अनुसार साधनका निर्णय करना साधारण मनुष्यगणके लिये सर्व्वथा असम्भव है। इस कारण शब्दानुशासनके दोनों विभागोंमेंसे आचार्य्यकी आज्ञा ही प्रथमस्थानीय समझी गई है। गुरु और आचार्य्य शब्द एक ही भावके प्रकाशक हैं, केवल आध्यात्मिकपथप्रदर्शकके लिये गुरुशब्द अधिक व्यवहृत होता है तथा आचार्य्य शब्द आध्यात्मिक भावमें और लौकिक तथा शास्त्रीय उपदेष्टाके लिये भी व्यवहृत होता है* । प्राचीन कालमें मनुष्य-समाजमें पवित्रता अधिक रहनेके कारण बुद्धिका

---

*स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।
उपनीय ददद्वेदमाचार्य्यः स उदाहृतः ॥ इति स्मृतिः ।
आचार्य्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्य-
र्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा । इति यास्कमुनिः ।
आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मात्तमाचार्य्यं प्रचक्षते ॥ इति स्मृतिः ।

निर्मलत्व अधिक रहा करता था। परन्तु इस अज्ञानयुक्त कलियुगमें मनुष्योंकी बुद्धि बहुत ही मलिन होगई है, अतएव आचार्य्यानुशासनको और भी दृढ़ता होना उचित है।

यही समझकर श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्यजी महाराज आचार्य्यानुशासनकी प्रधानता स्थापन करनेके अर्थ वर्त्तमान देशकालपात्रोपयोगी बहुत कुछ नियम बना गये हैं एवं चार मठोंकी मर्य्यादा बांध मठाम्नाय आदि अनुशासनग्रन्थोंका प्रणयन कर आर्य्यजातिकी क्रमोन्नतिके अर्थ बहुत कुछ सुगम उपाय कर गये हैं। गुरु और आचार्य्यपदकी मर्य्यादा स्थायी रखनेके लिये और

आचार्य्यगुरुशब्दौ द्वौ सदा पर्य्यायवाचकौ।
कश्चिदर्थगतो भेदो भवत्येवं तयोः क्वचित्॥
औपपत्तिकमंशन्तु धर्म्मशास्त्रस्य पण्डितः।
व्याचष्टे धर्म्ममिच्छूनां स आचार्य्यः प्रकीर्तितः॥
सर्वदर्शीतु यः साधुर्मुमुक्षूणां हिताय वै।
व्याख्याय धर्म्मशास्त्रांशं क्रियासिद्धिप्रबोधकम्॥
उपासनाविधेः सम्यगीश्वरस्य परात्मनः।
भेदान् प्रशास्ति धर्म्मज्ञः स गुरुः समुदाहृतः॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनां शास्त्रोक्तानां विशेषतः।
प्रभेदान् यो विजानाति निगमस्यागमस्य च॥
ज्ञानस्य चाधिकारांस्त्रीन् भावतात्पर्य्यलक्ष्यतः।
तन्त्रेषु च पुराणेषु भाषायास्त्रिविधांस्तथा॥
सम्यग्भेदैर्विजानाति भाषातत्वविशारदः।
निपुणो लोकशिक्षायां श्रेष्ठाचार्य्यः स उच्यते॥

आचार्योंकी रीति नीति और अधिकारोंमें फेर न पड़ने पावे-इस लिये चार प्रधान आचार्योंको भारतके चार ओर स्थापित किया है। इन चारों आचार्य्य-पीठोंके स्थापित करनेका यही तात्पर्य्य था कि जिससे ब्राह्मणोंके द्वारा क्षत्रिय राजगण सहायता प्राप्त करते हुए तथा ब्राह्मणगण क्षत्रिय नृपतियोंके द्वारा संरक्षित होते हुए आर्य्यजातिके जातिगत जीवनकी रक्षा और उन्नति करते रहें *। यदि उस उन्नतिविषयक नियममें कुछ बाधा पड़े तो ये चारों पीठाधिपति परस्पर मिल कर अथवा स्वतन्त्ररूपसे उस विघ्नके दूर करनेमें तत्पर हो सकें; क्योंकि ब्राह्मणगण धर्म्मवक्ता तथा राजगण धर्म्म-पालक हैं ‡। दोनोंका काम यथायोग्य बँटा हुआ है, परन्तु यदि वे दोनों अपने अपने अधिकारानुसार कार्य्य न करें अथवा कोई एक दूसरेका अनादर करे उस समय

पञ्चतत्त्वविभेदज्ञः पञ्चभेदांविशेषतः ।
सगुणोपासनां यस्तु सम्यग् जानाति कोविदः ॥
चतुष्टयेन भेदेन ब्रह्मणः समुपासनाम् ।
गभीरार्थां विजानीते बुधो निर्म्मलमानसः ॥
सर्व्वकार्य्येषु निपुणो जीवन्मुक्तस्त्रितापहृत् ।
करोतिजीवकल्याणं गुरुः श्रेष्ठः सकथ्यते ॥

इति विज्ञानभाष्ये।

* नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते ।
ब्रह्मक्षत्रं च संपृक्तमिहामुत्र च वर्द्धते ॥ इति श्रीमनुः ।

‡ ब्राह्मणो धर्म्मवक्ताच राजा धर्म्मप्रपालकः ।

इति स्मृतिः ।

उनपर अनुशासन करके समाजकी स्वास्थ्यरक्षाके अर्थ ही इन चार पीठाधिपतियोंको उच्चतर अधिकार दिया गया था।

जिस प्रकार योगानुशासनके दो भेद तथा शब्दानुशासनके दो भेद हैं, उसी प्रकारसे लौकिक दण्ड भी दो प्रकारका कहा गया है। यदि च वास्तव में शास्त्रोंमें दण्ड तीन प्रकारका माना गया है, यथा—प्रथम समाजदण्ड, द्वितीय राजदण्ड और तृतीय यमदण्ड; परन्तु यमदण्ड पारलौकिक दण्ड है, इस शरीरके साथ उसका कोई साक्षात् सम्बन्ध न होनेसे साधारण नियमके अर्थ उसकी गणनाकी आवश्यकता नहीं है। अतः तृतीय अनुशासनको राज-दण्ड और समाजदण्ड विधिके अनुसार केवल दो भागमें ही विभक्त कर सक्ते हैं। तमःप्रधान प्रजाकी ही कलियुग में अधिकता है; अतः कलियुगके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्न्यासी सबके ही लिये प्रत्यक्ष दण्डकी आवश्यकता है। क्योंकि इस प्रमादयुक्त कालमें प्रमादका होना सबमें ही सम्भव है। साधारण प्रजाके अर्थ दण्ड ही एकमात्र रक्षक है। इसी कारण स्मृति आदि शास्त्रोंमें दण्डको धर्म्मरूप कह कर उसकी बड़ी भारी महिमा कही गई है*।

* ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः॥
नाभीतो यजते राजन्नाभीतो दातुमिच्छति।
नाभीतः पुरुषः कश्चित्समये स्थातुमिच्छति॥

विचारनेसे यही निश्चय होगा कि योगानुशासनके दोनों भेद तो असाधारण अधिकार हैं, परन्तु अन्य अधिकार साधारण हैं। जिनमेंसे शब्दानुशासनके दोनों अधिकारोंमें आचार्य्यानुशासन इस समय अधिक हितकारी हो सक्ता है। परन्तु आचार्य्यानुशासन राज-दण्डके आश्रयसे चल सक्ता है।

इस समय भारतवर्षके सम्राट्, अन्यधर्म्मावलम्बी होनेके कारण, राज-दण्डकी पूरी सहायता आर्य्यजाति को नहीं मिल सक्ती; हां समाज-दण्डका पुनः प्रवर्तन करना आर्य्यप्रजाके ही हाथमें है, सो इस समय सामाजिक अनुशासनसे ही आर्य्य जातिका कल्याण हो सक्ता है। सामाजिक अनुशासनकी पुनः प्रतिष्ठा द्वारा राज-दण्ड और समाज-दण्ड दोनोंका काम निकल सक्ता है और साथ ही साथ आचार्य्यानुशासन और शास्त्रानुशासनके प्रचारमें भी सहायता पहुंच सक्ती है। समाजानुशासनकी उन्नति विना आर्य्य जातिकी इस घोर दुःखदायिनी पीड़ाका नाश कदापि नहीं हो सक्ता। परन्तु प्राचीन कालमें जिस प्रकार सामाजिक अनुशासनकी रीति थी उस रीतिमें अब कुछ परिवर्त्तन करना पड़ेगा। देश, काल, पात्रके परिवर्त्तनसे रुचि और अधिकारका परिवर्त्तन हुआ करता है। अतः प्राचीन कालमें ग्राम

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्व्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्म्मं विदुर्ब्बुधाः॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति॥ इति मनुः।

और नगरों में जो समाजपतिके अधिकार देनेकी रीतिथी, उस समय स्वतन्त्र स्वतन्त्र जातिके लिये जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र पंचायत स्थापन करनेकी विधि थी, उस समय वंशपरंपरासे जो कुछ अधिकार दिया जाता था, तथा एक ग्राम अथवा नगरके साथ दूसरे ग्राम अथवा नगरका इस विषयमें कोई विशेप सम्बन्ध नहीं रक्खा जाता था, एक देश वा नगरकी पंचायतसे दूसरे देश अथवा नगरकी पंचायतके साथ कोई सम्बन्ध स्थापन करनेकी रीति नहीं थी, उन सब रीतियोंमें इस समयके उपयोगी कुछ परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता होगी। इस समयके देश-काल-पात्रानुरूप नियम बना कर सामाजिक अनुशासन स्थापित करना पड़ेगा। "पञ्चायतीशक्ति" अर्थात् "सङ्घशक्ति" की प्रथा बहुतकालसे इस देशमें प्रचलित है, इस समय उसको संस्कृत करके उन्नत करना होगा। श्रीभगवान् व्यासदेव स्पष्ट शब्दोंमें कह गये हैं कि अन्यान्य युगोंमें अन्यान्य शक्ति कार्य्यकारिणी होने पर भी कलियुगमें केवल "सङ्घ शक्ति" अर्थात् "पञ्चायती शक्ति" ही फलप्रद होगी *।

इस समय सामाजिक अनुशासनकी बहुत कुछ प्रशंसनीय रीति यूरोप और अमेरिकाके मनुष्यसमाजमें देखनेमें आती है। वहां अन्य उपधर्म्म तथा अनार्य्यरीतियोंके प्रचलित होनेके कारण वहांके मनुष्यसमाजमें बहुत प्रकारकी सामाजिक शिथिलता है; परन्तु

* त्रेतायां मन्त्रशक्तिश्च ज्ञानशक्तिः कृते युगे।
द्वापरे युद्धशक्तिश्च सङ्घशक्तिः कलौयुगे॥ इति श्रीव्यासः

सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी जो कुछ रीतियां यूरोप श्रौर अमेरिका में प्रकट हुई हैं वे सब बहुत ही दृढ़ नियमयुक्त श्रौर प्रशंसनीय हैं। वहांके मनुष्योंमें बहुधा सामाजिक अनुशासन इतना दृढ़ श्रौर शक्तिशाली है कि वे उसके द्वारा राजाके विना भी अपने देशका सम्पूर्ण राजसिक प्रबन्ध चालित करनेकी प्रथा किसी विशेष विशेष देशमें चला रहे हैं। फ्रान्स श्रौर यूनाईटेड स्टेटका प्रजातन्त्र राजनियम (Republican form of Government) उसी सामाजिक अनुशासनशक्तिका असाधारण फल है। इसमें सन्देह नहीं कि आर्य्यप्रजाके सनातनधर्म्मसम्बन्धी पवित्र विचारोंके अनुसार राजाको न रख करके प्रजातन्त्रराज्यस्थापन करना सर्वथा निन्दनीय पापजनक श्रौर विज्ञानविरुद्ध समझा जायगा। चाहे उन्नत पुरुषार्थ ही क्यों न हो परन्तु सब कार्य्योंमें अति सर्वत्र वर्जित है। मनुष्यजाति एवं देशका स्थायी मङ्गल तब ही होसक्ता है कि जब राजा श्रौर प्रजा दोनोंकी ही सम्पूर्णरूपसे स्वाधीनता न रहे। राजनीतिके विचारमें राजा एवं प्रजा इन दोनोंकी स्वतन्त्रता रखते हुए, दोनोंकी स्वाधीनताके अवलम्बनसे राज्यशासन करनेकी रीति, जो प्राचीन आर्य्यगणमें प्रचलित थी, सो बहुतही दृढ़ श्रौर दूरदर्शितासे पूर्ण थी; यदि ऐसा न होता तो मर्य्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र, अपारशक्तिशाली चक्रवर्ती सम्राट् होने पर भी, एक क्षुद्र प्रजाकी तुष्टिके लिये अपनी परम सती सहधर्म्मिणी सीता देवीका त्याग करके उक्त राजधर्म्मका आदर्श स्थापन न करते। तौ भी इस समय

जिस प्रकार लौकिक बलके प्रयोगद्वारा कार्य्यनिर्वाह करनेकी प्रथा यूरोप आदिमें प्रचलित है उस प्रकारकी प्रथा पुराकाल में भारत में नहीं थी। उस समय एकमात्र धर्म्मबन्धन द्वारा सब सुरक्षित होता था।

राजनैतिकविचार में यद्यपि आज दिन यूरोपीय जातियोंने नाना नूतन आविष्कार कर दिखाये हैं परन्तु उनका राजनीतिविज्ञान सदा परिवर्त्तनशील ही देखनेमें आता है; किन्तु आर्य्यराजनीति अपरिवर्त्तनशील तथा दृढ़ है। यूरोपने आज दिन लिबरल (Liberal), कंसरवेटिव (Conservative) आदि मंत्रिसभासंगठनकी प्रणाली तथा लिमिटेड मानरकी (Limited monarchy) रूपी राजतन्त्र विधि, एवं रिपब्लिक (Republic) रूपी प्रजातन्त्र विधि आदि नाना राजनैतिक नूतन आविष्कार किये हैं; किन्तु आर्य्यविज्ञानके सन्मुख ये सब असम्पूर्ण ही हैं। प्रजातन्त्र भावको तो सनातनधर्म्मावलम्बी स्वीकार ही नहीं कर सक्ते; उनकी दृष्टिमें प्रजातन्त्रभाव तो अधर्म्म-का भावी घर अनुमान होता है। और वास्तवमें यदि विचारा जाय कि मनके प्रसन्न करनेके लिये प्रजातन्त्रपक्ष-पाती यद्यपि अपने राज्यका नाम प्रजातन्त्रराज्य रखते हैं, परन्तु कार्य्यतः वे प्रजामेंसे एक योग्य पुरुषको चुन कर कुछ दिनोंके लिये राजपदवी दे दिया करते हैं, वास्त-वमें वह प्रधान पुरुष राजा ही होता है।

सृष्टिकौशलविचार द्वारा भारतवासियोंने यह निश्चय ही कर लिया है कि जीवमें ज्ञानप्रभेद रहना स्वतःसिद्ध है, इस कारण उसमें लघुशक्ति तथा गुरुशक्ति-

का विचार रखना भी अपरिहार्य्य है। प्रजासे लेकर राजा तक, मूर्खसे लेकर विद्वान् तक, अज्ञानीसे लेकर पूर्ण ज्ञानवान् तक सब प्रकारके अधिकारियोंमें लघुशक्ति तथा गुरुशक्ति, प्रजाभाव तथा राजभाव, शिष्यभाव तथा उपदेशकभाव, आज्ञापालक तथा आज्ञाकर्ताभावोंकी स्वतन्त्रता रहना अवश्यसम्भावी है। इस अभ्रान्त सिद्धान्तके अनुसार यही निश्चय होगा कि केवल प्रजा ही राजशक्ति तथा प्रजाशक्ति इन दोनोंका कार्य्य चिरकाल तक पूर्णरूपसे निर्वाह नहीं कर सक्ती। यदि प्रजाको किसी कौशलद्वारा पूर्णरूपसे राजपदका भी भार दे दिया जाय तो एक न एक समयमें उसका यह अधिकार उसके ही लिये आपत्तिका कारण हो जायगा। इसी अभ्रान्त प्राकृतिक नियमके अनुसार फ्रांस देशमें अनेकबार राजनैतिक विप्लव हुए हैं; और बुद्धिमानों का यही सिद्धान्त है कि भविष्यकालमें भी फ्रांस तथा अमेरिका आदि प्रजातन्त्र राज्योंमें पुनः घोर राज्यविप्लव होगा, इसमें सन्देह नहीं। इसी वैज्ञानिक विचार पर स्थित होकर प्राचीन आर्य्यगणने अपनी दृष्टि इस प्रकारकी स्वतन्त्रताकी ओर कभी डाली ही नहीं। प्रजातन्त्राज्यप्रणालीके विषयमें केवल हमारा ही ऐसा मत नहीं है किन्तु बड़े बड़े मननशील पश्चिमी विद्वान् भी इस नूतन राजनीतिके दोष, अनुमान द्वारा सिद्ध कर चुके हैं। चिन्ताशील व्यक्तिगण यह स्वीकार करते हैं कि यूरोप और अमेरिकाकी राज्यशासनप्रणालीमें यद्यपि अदूरदर्शिता बहुत कुछ है परन्तु हमारे वर्त्तमान सम्राट्की ब्रिटिश

गवर्नमेण्टकी राज्य-शासनप्रणाली आर्य्य गणकी प्राचीन राज्यशासनप्रणालीसे कुछ कुछ मिलती हुई है। जिस प्रकार ब्रिटिशगवर्न्मेण्टकी राजकीय शासनप्रणाली न पूर्ण रीतिसे प्रजातन्त्र है और न पूर्णरीतिसे राजतंत्र ही है एवं राजाका सन्मान पूर्ण है। प्राचीन आर्य्यगणमें भी वैसा ही था, केवल भेद इतना ही था कि ब्रिटिशगवर्न्मेण्टमें राजाकी शक्ति सङ्घशक्तिद्वारा अधिकृत की गई है और प्राचीन आर्य्यगणमें राजाकी शक्ति वर्णाश्रमधर्म्ममर्य्यादा द्वारा अधिकृत थी। ब्रिटिशगवर्न्मेण्टकी शासनप्रणाली अपेक्षाकृत अनुकूल होनेके कारण इस समय श्रीभगवान्की कृपासे उनको भारतशासन करनेका अधिकार मिला है।

यूरोप तथा अमेरिकाके राजनैतिक सिद्धान्तोंमें अनेक असम्पूर्णता है परन्तु उनके राजनैतिक कौशल पर विचार करनेसे यह अवश्य सिद्धान्त होगा कि वहांके मनुष्योंमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी प्रशंसनीय रीतियां प्रचलित हैं। वहांकी सामाजिक, राजनैतिक तथा नानाविद्यासम्बन्धी सभाओंकी गठनप्रणाली पर विचार करके इस समयके आर्य्यगण अपनी जातिमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेमें निःसन्देह बहुत कुछ लाभ उठा सक्ते हैं। उन देशोंमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करके वहांके मनुष्य गण चाहे राजनैतिक और व्यापारसम्बन्धी और ही प्रकारका लाभ उठाते हों, परन्तु इस विषयमें उन्होंने इतनी उन्नति की है कि आज कलकी आर्य्य प्रजा, उनकी उस प्रबन्धशैलीकी सहायतासे, अपनी

धर्म्मोन्नतिके अर्थ, सामाजिक अनुशासनकी विधिमें लाभ उठा सक्ती है। उदाहरणस्थल पर समझ सक्ते हैं कि ब्रिटिश द्वीपके अधिवासियोंने सब राज्य भरमें व्यापार और धनकी वृद्धिके लिये "कोअपरेटिव यूनियन" (Co-operative Union) नामसे जो सामाजिकशक्ति उत्पन्न की है उसकी सफलता पर विचार करनेसे भारतवासीमात्र ही चकित होंगे। इस महासभाके द्वारा ब्रिटिश जातिने थोड़े ही कालमें इतनी बड़ी लौकिक शक्ति प्राप्त की है कि जिसके सुप्रबन्धसे उस राज्य भरमें सहस्रों शाखासभाएँ स्थापित हो गई हैं और ऐसा ग्राम अथवा नगर नहीं है कि जहां धन और व्यापारकी वृद्धिके लिये उनका स्वतन्त्र केन्द्र स्थापित न होगया हो। इस व्यापारसम्बन्धी महासभाकी शाखाएं केवल ब्रिटिश द्वीपमें ही नहीं हैं, किन्तु इसके एक वैदेशिक विभागकी सहायतासे इसकी बहुत सी शाखाएँ यूरोप और अमेरिकाके सब राज्योंके प्रधान प्रधान नगरोंमें स्थापित हो गई हैं। समाजके प्रधान २ नेतागण इस महासभाके सभ्य हैं, और जातिके धन-समागम और व्यापारकी नियमबद्ध उन्नतिके अर्थ जैसा चाहे वैसा ही कार्य्य यह महासभा कर रही है। व्यापार-सम्बन्धमें राजगणको भी इस महासभाका परामर्श स्वीकार करना पड़ता है, तथा व्यापारसम्बन्धी शिक्षा लोकसमाजमें प्रचलित करनेके लिये यह महासभा प्रधान सहायक है। इसी प्रकारसे ब्रिटिश जातिकी राजनैतिक महासभाके सभ्यगणके चुनावकी शैली, उस राज्यकी वैज्ञानिक महासभा और उसकी शाखाओं-

की गठनप्रणाली, तथा वहांके विश्वविद्यालय आदि विद्याप्रचारसम्बन्धी सभाओंकी प्रशंसनीय प्रबन्ध-प्रणाली पर जितना लक्ष्य डाला जाता है उतना ही उस जातिकी सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी असाधारण योग्यता जानी जा सक्ती है। हमारी आर्य्य जातिको इस समय अपने समाजमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करके धर्म्मके पुनरभ्युदय, समाजकी उन्नति और विद्या-के प्रचारके अर्थ, अवश्य ही पश्चिमीय जातियोंकी सा-माजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी प्रशंसनीय रीतियोंमेंसे, बहुत से उपयोगी नियमोंकी सहायता लेना कर्त्तव्य है। हां इसमें सन्देह नहीं कि जो कुछ सहायता ली जाय सो अपने धर्म्म तथा आचारके विरुद्ध फल उत्पन्न न कर सके; किन्तु केवल सामाजिक अनुशासनके बांधनेमें ही सहायक हों, ऐसी रीतियोंको ही ग्रहण करना सर्वथा कर्त्तव्य होगा।

आर्य्यजातिमें सामाजिक अनुशासनकी धर्म्मयुक्त प्रणाली प्रचलित करनेके अर्थ तथा उसके द्वारा भारत-वर्षव्यापिनी एक सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेके लिये, आर्य्य-जातिको अब विशेष विचार, धैर्य्य और दूरदर्शिताके साथ कार्य्य करना उचित है। "श्रीभारत-धर्म्ममहामण्डल" कि जिसमें स्वाधीन हिन्दू नृपति और धर्म्माचार्य्योंसे लेकर सब सामाजिक नेता संस्कृतके अध्यापक और योग्य पुरुषगण संयुक्त हैं, तथा सब साधारण आर्य्यप्रजा भी जिसकी सभ्यश्रेणीमें होकर जिससे संयुक्त हो सक्ती है, यहां तक कि कुलकामि-

नीगण भी जिसमें योगदान करके धर्म और
कर सक्ती हैं। जिस विराट् सभा के द्वारा धर्म
समाजसंस्कार तथा विद्याप्रचार सम्बन्धमें स
के पुरुषार्थ हो सक्ते हैं, ऐसी महासभाको
जातिकी एक विराट् धर्म्मसभा मान कर
आश्रय लेना प्रत्येक आर्य्यसन्तानका कर्त्तव्य
विराट् सभाकी सहायतासे ऐसा प्रयत्न हो
है कि जिससे भारतवर्षके मद्रास, बम्बई, मध
राजपूताना, पंजाब, ब्रह्मावर्त तथा बंगाल आदि
में एक एक स्वतन्त्र प्रान्तीय केन्द्ररूपसे एक ए
मण्डल स्थापित किया जाय। भारतके उद्धारकर्ता
वान् शङ्कराचार्य्यजी महाराज द्वारा स्थापि
महापीठोंमें से जो जोषीमठ लुप्तप्राय होगया
पुनः संस्कार करके चारों मठोंकी श्रीवृद्धि तथा
साम्प्रदायिक आचार्य्यस्थानोंकी उन्नति करते
चार्य्यमर्य्यादाकी पुनः स्थापना की जाय। जि
धर्म्ममण्डलका साक्षात् सम्बन्ध जिस श्रीशङ्क
मठसे हो, उस मठके अधीश्वरको उस उस
मण्डलका सभापतिपद दिया जाय, तथा अन्य
मण्डलोंके सभापतिपद पर तत्तद्देशवासी सां
प्रधान आचार्य्य अथवा जहां सांप्रदायिक आ
गद्दी भी न हो, अथवा कोई असुविधा हो तो
प्रान्तके किसी ब्राह्मण अथवा क्षत्रियवंशोद्भव
को सभापतिपद पर नियुक्त किया जाय। ऐसे

सभाएं स्थापित की जांय; उन शाखाधर्म्मसभाओंके सभापति और मन्त्रीपद पर वहींके सामाजिक नेताओंमेंसे योग्य व्यक्ति नियत किये जांय। महामण्डल, प्रान्तीयमण्डल, और शाखाधर्म्मसभाएं, परस्पर सम्बन्ध रख कर, अपने अपने अधिकारानुसार कार्य्य करें; तथा आवश्यक होने पर एक दूसरेका अनुशासन मानते हुए तथा एक दूसरेसे सहायता प्राप्त करते हुए, अपनी अपनी शक्ति और कार्य्यकुशलताको बढ़ाते रहैं।

भारतवर्ष भरमें दश अथवा द्वादश धर्म्ममण्डल तथा उनके अधीन सहस्रों धर्म्मसभाएं यदि एकमत होकर धर्म्मपुरुषार्थमें प्रवृत्त हों तो थोड़े ही कालमें आर्य्य जातिमें सामाजिक धर्म्मशक्तिका आविर्भाव होना निश्चय ही है। महामण्डल तथा प्रान्तीयमण्डल लोक-संग्रह तथा धनसंग्रह द्वारा अपनी शक्ति वृद्धि करके, शाखा सभाओंकी सम्हाल रक्खें; और शाखासभागण साक्षात् रूपसे वर्ण और आश्रमधर्म्मकी उन्नति करते हुए, ज्ञानविस्तारकी सहायतासे, अपनी सभाके अधिकारको दृढ़ करके जाति एवं देशकी उन्नतिमें यत्नवान् हों, योग्य पुरुषोंको पुरस्कृत और धर्म्मविरुद्ध निरंकुश व्यक्तियोंको तिरस्कृत करके समाजकी दृढ़ता सम्पादन करें तथा साथ ही साथ धर्म्मके रहस्योंका प्रकाश करके प्रजाको धार्मिक बनावें। अब यह प्रश्न हो सक्ता है कि सामाजिक शक्ति प्राप्त करनेके अर्थ जो तिरस्कार वा पुरस्कार करनेकी आवश्यकता है, वह राजा का कार्य्य है; सो सभाएं कैसे यह कार्य्य कर सकेंगी? पहले ही

यह वर्णन किया गया है कि राजदण्ड और
दोनों ही योग्यताके साथ काममें लाने पर
दे सक्ते हैं। स्वाधीन नृपतियोंके राज्यमें
की प्रेरणा द्वारा तिरस्कार और पुरस्कारकी
मता के साथ चलाई जा सक्ती है, परन्तु
धीनता देने वाले ब्रिटिश राज्यमें सामाजिक
प्रयोग करके तिरस्कार और पुरस्कारकी मर्य्या
में कुछ अवश्य ही कठिनता पड़ेगी। परन्तु
तथा प्रान्तीयमण्डल तथा शाखासभाओंकी
शैली (Organization) उत्तम होने पर अवश्य ही
सुगमतासे चल सकेगा। श्रीमहामण्डलके
विभागद्वारा धर्म्म, विद्या, शिल्प, विज्ञान
समाज, नीति आदिकी उन्नतिको लक्ष्य क
पात्रोंको उपाधि, मानद्रव्य, मानपत्र आदि
जातिकी ओरसे सन्मानित करनेका
नियम संगठन करके श्रीभारतधर्म्ममहामण्
प्रकारसे लाभवान् हो सकेगा।

योग्य विद्वान् तथा सदाचारी और धार्मिक
उनके यथायोग्य अधिकारके अनुसार, ध
यता दे कर, उपाधि आदिसे भूषित करके औ
में उनके सन्तोषार्थ सन्मानकी मर्य्यादा बां
स्कार की रीति प्रचलित करना तो समाजके
एवं उस सब सामाजिक सन्मानको नीति
गवर्नमेण्ट भी प्रकारान्तरसे अवश्य ही स्वीक

प्रचलित करनेमें अपेक्षाकृत कुछ कठिनता पड़ेगी; परन्तु इस जातीय विराट् धर्म्मसभाकी गठनप्रणालीकी उत्तमता होने पर वह कार्य्य भी सुगमतापूर्व्वक चल सकेगा। असन्मानका विचार, लोकसमाजका भय और जीवनके सुखोंमें असुविधा आदि ही दण्डमें हुआ करता है। यदि महामण्डलकी प्रबन्धशैली दृढ़ हो तो अयोग्य पुरुषोंको अपनी रीति पर शाखासभाएं सामाजिकरूपसे दण्डित अवश्य ही कर सक्ती हैं। यदि नगर अथवा ग्राममें इस महासभाके उद्देश्य और आर्य्य जातिके इस समयके कर्त्तव्य सम्बन्धी सब बातें आर्य्य प्रजाको समझा दी जांय तो उस नगर वा ग्रामकी "पंचायती शक्ति" पूर्व्व कालके अनुसार दृढ़ होकर, अयोग्य पुरुषोंका तिरस्कार स्वयं ही कर सक्ती है। प्राचीन पंचायतमण्डलीका कार्य्य आधुनिक शाखाधर्म्मसभाएं अपने ऊपर ले लेवें और वहां के सामाजिक नेताओंकी सहायतासे अपनी शक्तिको काममें लावें। इस प्रकारके अनुशासन कार्य्य को सम्हालका भार लेकर शाखासभाएँ इस विपयमें धर्म्मानुरूप कार्य्य करती हैं या नहीं, इसकी देख भाल और सुधारका भार प्रान्तीय मण्डलोंके धर्म्माचार्य्य सभापतियों पर निर्भर रहना उचित है।

आज तक भी गुजरात तथा दक्षिण प्रान्तमें पीठाधीश धर्म्माचार्य्यगणके हाथमें इसी प्रकारकी शक्ति कुछ कुछ उपस्थित है। अब भी जहां जहां उनकी शक्ति बनी है, वहांके नगर अथवा ग्रामोंमें धर्म्म अथवा समाज-

सम्बन्धी कुछ जटिल मीमांसाकी आवश्यकता होने पर, पीठाधीश गण अपने आज्ञापत्र तथा पीठके चिन्ह आदि को देकर, किसी योग्य ब्राह्मण प्रतिनिधिको उस स्थानमें भेज कर, वहांकी प्रजाकी सम्मतिसे, उस सामाजिक अथवा धार्म्मिक मतपार्थक्यका निर्णय करते हैं; और उसी सम्बन्धमें जिसका दोष निर्णय होता है उसी पर सामाजिक शासनकी आज्ञा देते हैं। जब अभी तक ऐसी रीतियां प्रचलित हैं, तो इस प्रशंसनीय रीतिको नियमबद्ध करते हुए, भारतवर्षके सब प्रान्तों-में प्रचलित करना असुविधाजनक नहीं होगा; अपिच यदि लोकलज्जाका प्रभाव मनुष्योंके चित्त पर पड़ना स्वतःसिद्ध है, तो प्रथमावस्थामें महामण्डल के प्रान्तीय सभापतियोंके, अथवा प्रधान सभापति आदिके हस्ता-क्षरयुक्त अनुशासनपत्र द्वारा ही विरुद्धपथावलम्बी मनुष्यगण अथवा प्रमादग्रस्त दातागणकी मोहनिद्रा भङ्ग हो सक्ती है। और यदि इससे भी फल न हो तो इतनी बड़ी विराट् शक्तिकी सहायतासे भारतवर्ष के सब समाजोंमें उनकी अकीर्तिके विस्तार होनेका भय भी बहुत कुछ कार्य्यकारी होगा। इस प्रकारसे सुकौशलपूर्ण यत्न द्वारा इस विराट् धर्म्मसभाकी सहायतासे शाखा-सभागण, सामाजिक दण्डके प्रचार द्वारा, धर्म्मोन्नति करनेमें समर्थ होंगी, इसमें सन्देह नहीं। विशेषतः तिर-स्कारकी सहायता लेना गौण शैली है; अस्तु योग्य व्यक्तियों को पुरस्कृत करनेसे ही अयोग्य व्यक्तिगण सावधान हुआ करते हैं तथा गुणियोंका उत्साह अपने आप ही बढ़ जाता है।

महामण्डलकी सहायतासे शाखाधर्म्मसभाओं के द्वारा उत्तम उत्तम दृढ़ नियम बना कर, सुकौशलपूर्ण युक्तिके साथ प्रयत्न करने पर, आचार्य्यअनुशासनकी पुनः प्रतिष्ठा होगी; महामण्डलके शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा शास्त्रानुशासनकी मर्य्यादा बढ़ सकेगी; और शाखासभाओंके शक्तिसम्पन्न होने पर, सामाजिक अनुशासन दृढ़ होकर, समाजदण्डकी सहायतासे आर्य्य जातिकी पुनरुन्नति तथा सनातनधर्म्मका पुनरभ्युदय होना निश्चय है । इस ढंग पर वर्त्तमान अधःपतित आर्य्य जातिमें सामाजिक अनुशासनकी पुनः प्रतिष्ठा होनेसे, आर्य्यजातिगत महारोगकी शांति हो सकेगी। परन्तु इस प्रकार प्रबन्ध बांधनेके साथ ही साथ वर्णोंके नेता ब्राह्मण, और वर्णोंके गुरु तथा आश्रमोंके नेता सन्यासियोंके, वर्त्तमान आचार-विचारोंका संस्कार अवश्य ही होना उचित है । वे दोनों ही वर्णाश्रम धर्म्मके शीर्षस्थानीय हैं, अतः उनकी पुनरुन्नति विना आर्य्य जातिकी स्थायी उन्नति नहीं होगी । ब्राह्मण चारों वर्णों में प्रधान हैं, ब्राह्मण ही आर्य्य प्रजाके सदा चालक होते आये हैं । अतः ब्राह्मण गण जितनी योग्यता प्राप्त करेंगे, समाजमें उनका जितना आदर बढ़ेगा, चातुर्वर्ण्यका उतना ही कल्याण हो सकेगा । अस्तु ब्राह्मण जातिकी उन्नति पर ही प्रधानतः आर्य्य जातिकी उन्नति निर्भर हो रही है ।

तमोगुणकी अधिकताके कारण, तथा ब्राह्मण जातिमें विद्याका बहुत ही अभाव हो जानेके कारण, ब्राह्मणोंकी बहुधा दृष्टि अब धनकी ओर पड़ी है, तथा तपसाधन

अविद्याके विस्तारके साथ ही साथ पुरुषार्थप्रवृत्ति एक बार ही नष्ट होगई है; अतः इस श्रेष्ठ जातिमें जब तक निष्काम पुरुषार्थकी पुनः प्रवृत्ति न होगी, जब तक वर्ण-गुरु ब्राह्मण और आश्रमगुरु सन्न्यासियोंमें श्रीभगवत्-कथित गीतोपनिषद्के कर्म्मयोगविज्ञानकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी, तब तक इस अधःपतित आर्य्य जातिकी पुनरुन्नति और सनातनधर्म्मका पुनरभ्युदय होना सर्वथा असम्भव है।

आज कलके सांसारिक लोग प्रायः ऐसा विचार करने लगते हैं कि ज्ञानवान् होने पर ही, सन्न्यास आश्रम-धारी होने पर ही, जड़वत् निश्चेष्ट होजाना उचित है। ब्राह्मण गणमें जहां कुछ तत्त्वज्ञानकी प्रवृत्तिकी उत्पत्ति हुई, उसी समय वे समझने लगते हैं कि बस अब हाथ पांव हिलाना अनुचित है। गृहस्थ गण ऐसा विचार कर यह निश्चय करने लगते हैं कि साधुओंको और कुछ भी करणीय नहीं रहता, उनको केवल इतना ही उचित है कि या तो वे लोकालय और मनुष्य समाजको त्यागकर निर्जन वनमें जाकर एकान्तसेवी होजांय, अथवा मूक, निष्क्रिय पुरुषार्थहीन होकर जड़वत् हो रहें! दूसरी ओर आज कलके नानारूपधारी सन्न्यास आश्रममें प्रवृत्त हुए साधु गणमें वैसा ही प्रवाह दृष्टिगोचर होता है; आजकलके भिक्षुआश्रमधारी साधकोंमें आलस्य, पुरुषार्थहीनता परोपकार वृत्तिका त्याग, श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूपसाधनका अभाव आदि वृत्तिसमूह देखनेमें आता है!! फलतः अब निर्णय करने योग्य है कि सन्न्यास अव-

स्थामें पुरुषार्थका सम्बन्ध रहना उचित है अथवा नहीं? ज्ञान द्वारा अथवा हठ द्वारा साधक सकल प्रकारसे कर्म्म-त्याग करनेकी इच्छा कर सक्ता है परन्तु कर्म्मका पूर्णरूप-से सर्वथा त्याग करनेमें समर्थ होना असम्भव है। यदिच नित्य नैमित्तिक काम्य अथवा साधन कर्म्म आदिका त्याग होसक्ता है, परन्तु जबतक शरीर है तबतक शारीरिक चेष्टारूप कर्म्म लगा रहना अवश्यसम्भावी होनेके कारण, पूर्णरूपसे कर्म्मका त्याग कदापि हो नहीं सक्ता। श्रीभगवान्‌जीने इसी कारण गीताजीमें आज्ञा की है कि* कोई भी बिना कर्म्म किये नैष्कर्म्यकी सन्न्यास अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सक्ता, केवल कर्म्मत्यागसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होसक्ती। किसी समय एक क्षण मात्र भी कोई कर्म्मके किये विना रह नहीं सक्ता; क्योंकि प्रकृतिसम्भूत गुणसमूह जीवगणको विवश करके कर्म्म कराया करते हैं। इस भगवत्‌वाक्यरूप आप्त प्रमाण द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि, चाहे ज्ञानावस्था हो, चाहे अज्ञानावस्था हो, किसी अवस्थामें ही पूर्णरूपसे कर्मका त्याग असम्भव है। फलतः जब कर्म्मका सम्पूर्णरूपसे त्याग हो ही नहीं सक्ता तब कर्म्मत्याग द्वारा पूर्णसिद्धिरूप सन्न्यासावस्थाको प्राप्त करना सर्वथा अयौक्तिक है।

* न कर्म्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

इति गीतोपनिषद्।

अब विचार करना उचित है कि यथार्थ सन्न्यास अवस्थाका प्राप्त होना कैसे सम्भव है? श्रीगीताजीमें वर्णनहै कि* जो पुरुष कर्म्मफलकी इच्छा न रखकर अवश्य कर्त्तव्य समझते हुए विहित कर्म्म किया करते हैं वेही सन्न्यासी हैं, और वेही योगी हैं; अग्निहोत्रादिके त्याग करनेसे अथवा अक्रिय होनेसे ही सन्न्यासीपद-वाच्य नहीं हो सक्ते। हे पाण्डव! जिसको सन्न्यासी कहते हैं उसीको कर्म्मयोगी करके जानना; क्योंकि जिन्होंने फलकामनाका त्याग नहीं किया है इस प्रकारके साधक कर्म्मयोगी नहीं हो सक्ते। अस्तु इस भगवद्वाक्य-से यही सिद्ध हुआ कि निष्काम पुरुषार्थकी पूर्णावस्था ही सन्न्यासपदवाच्या है। ब्रह्मचर्य्याश्रममें पुरुष सकाम कर्म्म करनेकी रीतिका अभ्यास करता है, गृहस्थाश्रममें सकाम कर्म्मका साधन करके धर्म्म, अर्थ और कामको प्राप्त करता है, वानप्रस्थ आश्रममें पुनः निवृत्ति की ओर लौट कर निष्काम होनेका अभ्यास करता है, और सन्यास आश्रममें पहुंचकर पूर्ण निष्काम हो अपनी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार निष्काम पुरुषार्थ करता हुआ मोक्षका अधिकारी हो जाता है।

---

* अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥

इति गीतोपनिषद्।

इसमें सन्देह नहीं कि कर्म्म जड़शक्तिविशिष्ट है, इसमें सन्देह नहीं कि कर्म्म मुक्तिपदप्रापिका साक्षात् कारण नहीं है और इसमें भी सन्देह नहीं कि मुक्तिके साक्षात्कारणरूप "आत्मज्ञान" से, प्राकृतिक कर्म्म-का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि जबतक शरीर है, तबतक कर्म्मरूपी पुरुषार्थका रहना भी अवश्यसम्भावी है। अपिच ज्ञान दृष्टिका रहस्य इतना ही है कि कर्म्मको अज्ञानी जिस प्रकारसे करते हैं, मुक्त ज्ञानी गण उसी कर्म्मको और भावसे किया करते हैं; अज्ञानी कर्म्म द्वारा बन्धनको प्राप्त होते हैं; परन्तु वासनाका नाश होजानेके कारण ज्ञानीगण किसी प्रकार-के कर्म्मसे बन्धनको प्राप्त नहीं होते। फलतः यह अनादि और अनन्त कर्म्मप्रवाह साधन अवस्था और सिद्धा-वस्था दोनोंमें ही प्रवाहित होता है।

श्रीभगवान् जीने आज्ञा की है कि* मुक्तिभूमिमें पहुंचनेकी इच्छा रखनेवाले मुनिगणके अर्थ साधन-रूपी कर्म्म कारण है, परन्तु मुक्तिभूमिके अधिकारी गणके लिये शमरूप समाधि ही कारण है। योगारूढ़ पुरुष जब इन्द्रियोंके भोग्य विषयोंमें और उनके साधन-भूत कर्म्मोंमें आसक्ति नहीं करते तभी सर्वसंकल्प-

---

* आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्म्मस्वनुषज्जते ।
सर्व्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

इति गीतोपनिषद् ।

त्यागी वे महापुरुषगण योगारूढ़ सन्न्यासपदवाच्य हुआ करते हैं। एक मात्र सत्त्वगुणवृद्धिकारी सत् पुरुषार्थ समूह ही मुमुक्षुगणको क्रमशः मुक्ति भूमिमें अग्रसर करते हुए, शेषमें जीवन्मुक्त पदवी प्राप्त करा दिया करते हैं। विना पुरुषार्थके जीवगणको सदा अधः पतन होनेका डर रहता है, इस कारण केवल साधनरूपी सत्पुरुषार्थ ही साधकगणके लिये हितकारी है।

अस्तु, कर्म्म ही ब्रह्मसद्भावरूपी समाधि भूमिमें आरोहणेच्छु मुनिगणके लिये एकमात्र सहायक है। और जब साधक सिद्धावस्थामें पहुंच कर निर्विकल्प समाधिरूप समतावस्था प्राप्त करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है, तब यदि च कर्मकी कुछ भी आवश्यकता न रहनेसे पुरुषार्थ अवलम्बनीय नहीं रहते; तथापि विना समतावस्थाके, समाधिकी प्राप्ति होना असम्भव होनेके कारण, उस समय भी स्वाभाविक पुरुषार्थका बना रहना अवश्यसम्भावी है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका और क्रियाशीला होनेके कारण स्वभावतः शरीरद्वारा कर्म्म होता रहता है, एवं उस कर्म्मावस्थामें भी समतावस्थाको प्राप्त करके जीवन्मुक्त महात्मा समाधिस्थ रहा करते हैं। उस समय जीवन्मुक्त पुरुषगण स्वभावतः अपनी प्राकृतिक शक्तिके अनुसार सब कुछ करते हैं, वे सदा निःसंकल्प, सर्वजीवहितकारी पुरुषार्थमें लिप्त रहते हैं, परन्तु उनका अन्तःकरण पूर्णरूपसे वासनारहित हो जानेके कारण वे तब अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं करते। अपिच समाधिस्थ जीवन्मुक्तगण जो कुछ परोपकारव्रतका साधन करते रहते हैं व सब

भगवत्के आज्ञाधीन होकर जगत्कर्त्ताके इङ्गितसे ही किया करते हैं। यही जीवन्मुक्त पुरुषगणके पुरुषार्थ-का गुप्त रहस्य है। यही यथार्थमें संन्यास अवस्था है।

इसी कारण श्रीभगवान्जीने आज्ञा की है कि* हे अर्जुन ! मेरे सिद्धान्तके अनुसार कर्म्म-योगी, तपस्विगण से श्रेष्ठ हैं, ज्ञानी-गणसे भी श्रेष्ठ हैं, सकाम कर्म्मीगणसे भी श्रेष्ठ हैं, अतएव तुम कर्म्मयोगी बनो।† तुम कर्त्तव्य-कर्म्मसमूह अवश्य करते रहो; क्योंकि कर्म्म न करनेसे कर्म्म करना सर्व्वथा हितकारी है, कर्म्मशून्य होने पर तुम्हारा शरीर कदापि नहीं रह सकेगा।‡ हे भारत ! कर्म्ममें आसक्त अज्ञानीगण, जिस प्रकारसे कर्म्म किया करते हैं, कर्म्ममें अनासक्त ज्ञानी जीवन्मुक्तगण भी जीवगणको स्वधर्म्ममें प्रवृत्त करानेके लिये वैसे ही कर्म किया करते हैं।§ निष्काम कर्ममें जो कर्म्मका न

---

* तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥
इति गीतोपनिषद् ।

† नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्म्मणः ॥
इति गीतोपनिषद् ।

‡ सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत !
कुर्य्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
इति गीतोपनिषद् ।

§ कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥
इति गीतोपनिषद् ।

होना मानते हैं, और बलपूर्वक कर्म्मत्याग में जो कर्म्म-का होना अनुभव करते हैं, मनुष्यगणमें वेही यथार्थ बुद्धिमान् हैं; और पुरुषार्थकारी होने पर भी वेही ब्रह्ममें युक्त, अर्थात् जीवन्मुक्त हैं। इस प्रकारसे गीतोपनिषद्‌कथित भगवद्‌वाक्य द्वारा यही सिद्ध हुआ कि मनुष्यगणकी क्रमोन्नति करनेके अर्थ जिस प्रकार कर्म करनेकी एकान्त आवश्यकता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था अर्थात् निर्विकल्पसमाधिभावकी पूर्णतामें स्वाभाविकरूपसे कर्म्मका होना अवश्य-सम्भावी है।

जब तक शूद्र और वैश्यगण दीर्घसूत्रता और आलस्यके त्यागपूर्वक यथासम्भव कर्म्मयोगका साधन करते हुए देशके शिल्प और वाणिज्यकी उन्नतिमें तत्पर नहीं होंगे तब तक आर्य्यजातिकी आधिभौतिक उन्नति होना असम्भव है। जब तक क्षत्रिय और ब्राह्मणगण लोभ और प्रमादको छोड़ कर श्रीगीताजीमें कथित निष्कामव्रतका अभ्यास करनेमें तत्पर नहीं होंगे तब तक इस जातिकी आध्यात्मिक उन्नति होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं है। ब्रह्मचर्य्य आश्रमकी पुनः प्रतिष्ठा करके निष्कामव्रतपरायण मनुष्य उत्पन्न करने पड़ेंगे, प्रत्येक गृहस्थको यथासम्भव निष्काम कर्मकी प्रतिज्ञा करके गृहस्थ आश्रममें प्रवृत्त होना पड़ेगा, कर्म्म-योगी वानप्रस्थआश्रमधारी पुरुषगण जब दिन और रात लोकहितमें प्रवृत्त होंगे, और संन्यास आश्रमका एकमात्र अवलम्बन जब श्रीगीतोपनिषद्‌का विज्ञान हो जायगा उसी समय इस घोर रोगकी शान्ति होगी।

सामाजिक अनुशासनाभावरूपी क्षयरोगके साथ स्वार्थ-परतारूपी वीर्य्यभङ्गरोगकी उत्पत्तिसे आर्य्यजातिकी दशा अब बहुत ही कठिन और शोचनीय हो गई है। फलतः प्रबल पुरुषार्थके अवलम्बनसे जैसा जैसा सामाजिकशक्तिसञ्चाररूपी औषधिका प्रयोग और निष्कामव्रत-अभ्यासरूपी अनुष्ठानका साधन होता जायगा वैसे ही उक्त घोर रोगकी शान्ति हो सकेगी। आर्य्य-जातिरूपी शरीरमें सामाजिक अनुशासनकी प्रतिष्ठा द्वारा लुप्तप्राय क्षात्र तेजकी क्रमोन्नति होगी, और श्रीगीताजीमें कथित कर्म्मयोगके साधन द्वारा आध्यात्मिक-उन्नतिकारी ब्रह्मतेजका आविर्भाव होगा। अपने ज्येष्ठ सन्तानोंकी पुनरुन्नति देख कर ऋषि, देवता और पितृगण प्रसन्नचित्त होकर आशीर्वाद करेंगे और आर्य्य जाति तब जगत्कल्याण-कारिणी होकर परम शान्तिकी अधिकारिणी होगी।

इति चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चम अध्याय ।

सुपथ्यसेवन ।

अनादि कालसे अनादि कर्म्मस्रोतमें बहती हुई यह अनादि सृष्टिलीला प्रकट हो रही है। वेदोक्त दर्शन शास्त्र ही एकवाक्य होकर वर्णन करते हैं कि इस सृष्टि क्रियाके प्रकट करनेमें अनादिपुरुषरूपी ईश्वर और अनादिप्रकृतिरूपिणी महामाया ही कारण हैं। प्रकृति और पुरुषके संयोगसे सृष्टिक्रिया प्रकट हो रही है, परन्तु पुरुष स्वभावतः निस्सङ्ग होनेके कारण सृष्टिक्रिया-से निर्लिप्त रहते हैं; एवं इस संसारकी स्थिति प्रकृति-से ही होनेके कारण यह संसार प्राकृतिक कहाता है*।

जिस प्रकार वनके साथ वृक्षका सम्बन्ध है उसी प्रकार इस देहरूपी पिण्डका समष्टि और व्यष्टिसम्बन्ध ब्रह्माण्डके साथ है। भेद इतना ही है कि श्रीभगवान् सदा निर्लिप्त रहनेके कारण इस ब्रह्माण्डके कर्त्ता ही कहलाते हैं; परन्तु जीव मायामें लिप्त होकर अपने कर्मोंमें फंसा करता है इस कारण वह इस पिण्डके भोगोंका भोक्ता कहलाता है। जिस

---

* प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
इति गीतोपनिषद् ।

प्रकार ब्रह्माण्डमें प्रकृति-पुरुषात्मक शक्तियाँ प्रकट होकर इस ब्रह्माण्डकी सृष्टिक्रिया समष्टिरूपसे किया करती हैं उसी प्रकार इस पिण्डरूपी जीवशरीरमें प्रकृति और पुरुष-शक्तिके संयोगसे जीवसृष्टिका होना स्वतःसिद्ध है। ब्रह्माण्डसृष्टिक्रियामें ईश्वरके ईक्षणसे प्रकृति द्वारा सृष्टि होती है; उसी रीति पर संसारमें स्त्रीपुरुषके संयोग द्वारा स्त्रीगर्भमें नूतन सृष्टिकी उत्पत्ति हुआ करती है। समष्टिब्रह्माण्डसृष्टिक्रियाके साथ, व्यष्टिरूपी जीव-सृष्टिका सम्बन्ध मिलाने पर स्त्रीजातिका अध्यात्म-सम्बन्ध प्रकट हो जाता है*। वेदोंकी मन्त्रसंहितासे लेकर शास्त्रों और पुराणादिमें सृष्टि विषयमें यही बात सर्वतन्त्रसिद्धान्तरूपसे वर्णित हुई है।

वैदिक दर्शनोंके अनुसार प्रकृति-पुरुष-विज्ञानका यही सिद्धान्त हुआ है कि पुरुष चेतन, निस्सङ्ग और ज्ञानमय है; परन्तु मूल प्रकृति जड़, सङ्गशीला, परिणा-मिनी और पराधीना है। यदिच विना पुरुषकी दृष्टिके ब्रह्माण्डकी सृष्टि नहीं हो सक्ती, परन्तु वे पुरुष सदा सृष्टिसे अतीत, स्वाधीन और ज्ञानयुक्त रहते हैं। किन्तु

---

* "स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणञ्च असृजत्।"
इति श्रुतिः।

"अग्नीषोमात्मकं जगत्"। इति स्मृतिः।

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मेलनात्स्वयम्।
सुप्रभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्व्वाणि देहतः।
समष्टिव्यष्टिरूपेण ब्रह्माण्डः पिण्ड उच्यते॥
महर्षियाज्ञवल्क्यः।

सृष्टिक्रिया पुरुषके सङ्ग द्वारा मूलप्रकृति ही करती है, और विना पुरुषके सङ्गके प्रकृति कुछ भी करनेको समर्थ नहीं हो सक्ती, यहां तक कि पुरुषकी दृष्टि हटते ही प्रकृतिका लय हो जाया करता है। उसी ऐश्वरीय सृष्टि-नियमके अनुसार व्यष्टिरूपी नर और नारी देहमें भी यथावत् क्रिया होना अवश्यसम्भावी है। यदि सृष्टि-कर्ता आदिपुरुष और सृष्टिकर्त्री मूल-प्रकृतिके साथ नर और नारीदेहका समष्टि और व्यष्टि सम्बन्ध विज्ञान-सिद्ध है तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि उसी आदि नियमके अनुसार नारीशरीरकी शारीरिक और मान-सिक चेष्टाएं निज पतिके सम्पूर्ण अधीन रहना स्वभावके अनुकूल है* ।

निजप्रकृतिके अनुकूल साधन करनेसे सफलता होनेकी सम्भावना है; किन्तु प्रकृतिके प्रतिकूल कार्य्य करनेसे कार्य्यका गतिरोध हो जाना युक्तियुक्त है। नदीमें स्रोतके अनुकूल चलनेवाली नौका ठीक चला करती है; परन्तु उसको नदीस्रोतके विरुद्ध लेजानेमें प्रथम तो बहुत ही क्लेश हुआ करता है; और दूसरे यदि अन्य कोई आंधी आदिका कारण हो जाय तो उसके डूबनेकी सम्भावना होजाया करती है। उसी रीतिके अनुसार जिस प्रकृतिका अवलम्बन करके नर अथवा

---

* आत्मार्थत्वात्सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ।
प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ॥
प्रकृतिनिबन्धनाचेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ।
त्रिगुणाचेतनत्वादिद्वयोः ॥

सांख्यदर्शन ।

नारी शरीर उत्पन्न हुआ करता है उसी प्रकृति-प्रवाहके अनुकूल साधन करनेसे उस शरीरमें शीघ्रही सफलता प्राप्त होनेकी सम्भावना है। फलतः नारी शरीरमें जो धर्म्म-आदिका सम्बन्ध है उसी धर्म्मके अनुकूल नारीशरीर चलने पर उस शरीरके साधनमें सफलता प्राप्त होगी, अन्यथा अधर्म्म और विपद् दोनों ही होनेकी सम्भावना रहेगी, इसमें सन्देह मात्र नहीं* ।

जिस प्रकार सृष्टि-क्रियामें प्रकृति क्षेत्र और पुरुष क्षेत्रज्ञ है; † उसी ऐश्वरीय नियमके अनुसार जीवसृष्टि-में नरदेह तो बीजरूप और नारीदेह क्षेत्ररूप है। और जिस प्रकार ऐश्वरीय सृष्टिमें पुरुष केवल द्रष्टारूप रहते हैं किन्तु प्रकृति ही सृष्टि क्रियामें प्रधाना है; ‡ उसी नियम-के अनुसार जीवसृष्टिमें नरदेह अप्रधान और नारीदेह प्रधान है। साधारण युक्ति द्वारा ही इस वैज्ञानिक विचारका सिद्धान्त हो सक्ता है। प्रथम विचारने योग्य विषय यह है कि संततिकी उत्पत्तिमें यदि पुरुष वीर्य्य-दान देकर दूसरे मुहूर्त्तमें मृत्युको प्राप्त हो तो जीवशरीर-

---

* श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्व्वन् नाप्नोति किल्विषम्॥
इति गीतोपनिषद्।

† क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्व्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥
इति गीतोपनिषद्।

‡ कार्य्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
इति गीतोपनिषद्।

की उत्पत्ति व रक्षामें कुछ भी हानि नहीं होगी, परन्तु गर्भावस्था और सन्तानके पालनके समय तक नारी शरीरका विद्यमान रहना परमावश्यकीय है; विना माताकी कृपाके सन्ततिकी उत्पत्ति और उसका लालन पालन असम्भव है। द्वितीय विचारने योग्य विषय यह है कि यदि किसी मनुष्यके पचीस स्त्रियां हों और वे सब स्त्रियां पतिव्रता, बुद्धिमती, और ऋतु-अनुगामिनी हों तो उस गृहस्थको धर्म्मरक्षा और सृष्टि-नियमके पालन करनेके विषयमें कोई बाधा न होगी। अर्थात् धर्म्म-शास्त्रमें जो ऋतुगमनकी आज्ञा है और जो प्रकृतिनियमसे स्वभावसिद्ध भी है, उसी धर्म्मआज्ञाके अनुसार यदि वे पतिव्रता और जितेन्द्रिय स्त्रीगण निजपतिकी सेवा करती रहें तो नियमित सन्ततिकी उत्पत्तिमें कुछ भी बाधा न होगी। वरन् माताके धर्म्मपालन व इंद्रिय-संयम द्वारा अति धार्म्मिक, तेजस्वी और सर्व्वगुण-सम्पन्न सन्तति उत्पन्न होगी। परन्तु यदि एक स्त्री दो पुरुषोंसे सम्बन्ध रख कर सृष्टिनियमका पालन करना चाहे तो कदापि वह सृष्टि-धर्म्मका पालन न कर सकेगी; अर्थात् अधिक संख्याकी तो बात ही क्या किन्तु एक क्षेत्रमें कदापि दो बीजोंकी अङ्कुरोत्पत्ति नहीं हो सकेगी। फलतः जीवसृष्टिक्रियामें नारी प्रधान है*। तृतीय

* यतो बीजाङ्कुरोत्पत्तौ तरूणां पुष्टिवर्द्धने ।
कारणं केवला भूमिर्नान्यदस्तीह कारणम् ॥
अतो जगति नात्रास्ति मातुर्गुरुतरो जनः ।
प्राधान्यं प्रकृतेः सिद्धं सृष्टिकार्य्यप्रसारणे ॥

तत्व ।

विचारने योग्य विषय यह है कि, स्त्री के क्षेत्र होनेसे मनुष्यसमाजको, पुरुषके सृष्टिधर्म्मभ्रष्ट होनेमें इतनी क्षति नहीं हो सक्ती कि जितनी क्षति नारीके निजधर्म्मभ्रष्ट होनेसे समाजको हो सक्ती है। अर्थात् नरके दुष्कर्म्मोंका प्रभाव केवल उसके ऊपर ही पड़ता है, परन्तु नारीके व्यभिचारसे वर्णाश्रमधर्म्म नष्ट हो सक्ता है; कुल और जाति अपवित्र हो जाती है। अस्तु, नारीशरीरकी सम्हाल न रहनेसे उसके व्यभिचार द्वारा समस्त कुल और समस्त जातिको हानि भोगनी पड़ती है। इस प्रकारसे जितना ही प्रकृतिराज्यसम्बन्धीय सूक्ष्मभावके प्रति लक्ष्य किया जावेगा उतना ही सृष्टिकार्य्यमें नारीका प्राधान्य एवं अपूर्व विशेषत्व ज्ञात होगा। इत्यादि नाना कारणोंसे चिन्ताशील मनुष्यगण स्वतः ही स्वीकार करेंगे कि मनुष्यसमाजमें नर और नारी दोनोंका कदापि समान अधिकार नहीं हो सक्ता। संक्षेपरूपसे पूर्व्वोक्त रहस्य प्रकट किये गये; बुद्धिमान् व्यक्ति उन पर-विचार करनेसे कुछ समझ सकेंगे। पूर्व्वोक्त विचारसे यह सिद्ध होगा कि मनुष्यसमाजकी सृष्टिमें जब नारीशरीर सर्व्वप्रधान है तो उसकी पूर्णरूपसे रक्षा और शुद्धि रखना धर्म्मज्ञाता पुरुषोंका प्रधान कर्त्तव्य होगा, इसमें सन्देह नहीं।

धर्म्मके लक्षण वर्णन करते समय पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणने कहा है कि जिससे इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति अथवा मोक्षकी प्राप्ति हो; अर्थात् जिससे जीवकी क्रमोन्नति हो, उसको धर्म्म कहते हैं। तमोगुण जीवके लिये नाशका कारण है क्योंकि

तमोगुणकी वृद्धि द्वारा जीव जड़भावको प्राप्त होता है। रजोगुण द्वारा क्रियाशक्तिकी उत्पत्ति होनेके कारण रजोगुणसे चेतन भावकी अधिकता बढ़ती है; इस कारण तमोगुणसे रजोगुणका बढ़ना हितकारी है। परन्तु सत्त्वगुणका स्वभाव प्रकाश है, अतः सत्त्वगुणमें ज्ञानरूपी ईश्वरभाव प्रकट हुआ करता है; इस कारण सत्त्वगुणकी वृद्धि करनेसे ही धर्म्मकी प्राप्ति हुआ करती है। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर सनातनधर्मशास्त्रोक्त सब धर्मसम्बन्धी पुरुषार्थ निर्णीत किये गये हैं। फलतः धर्म्मविज्ञानका यही सिद्धान्त है कि, ज्ञानमय सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये जो क्रिया कुछ बाधा न दे, वरन् जीवके आत्मोन्नतिकर्म्मप्रवाहको सरल कर दे, वही यथार्थमें धर्म्म है। इस अभ्रान्त सिद्धान्तके अनुसार जगत्के सब पदार्थ और जीवकी सब क्रियाएं धर्म्म और अधर्म्म भावसे सम्बन्धयुक्त हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अवस्थाभेदसे, जीवकल्याणकारी धर्म्म और तद्विरोधी अधर्म्म भावकी छुटाई बड़ाई हो सक्ती है; परन्तु सकल स्थानमें धर्म्माधर्म्म का सम्बन्ध रहा करता है क्योंकि धर्म्माधर्म्मसे अतीत कोई भी स्थान अथवा वस्तु नहीं है*। उदाहरण स्थल पर समझ सक्ते हैं कि अधर्म्मका सम्बन्ध एक कीटहत्यासे लेकर एक ब्राह्मणहत्या तकमें है परन्तु दोनों अवस्थाओंके गुरुत्वमें

---

* धर्म्मेणैव जगत्सुरक्षितमिदं धर्म्मोधराधारकः।
धर्म्माद्वस्तु न किञ्चिदस्ति भुवने धर्म्माय तस्मै नमः॥
महर्षि वेदव्यास।

बहुत ही भेद है; उसी प्रकार धर्म्मसम्बन्धविचारद्वा
यही सिद्धान्त होगा कि एक पशुकी प्राणरक्षा औ
एक राजा अथवा ब्राह्मणको प्राणरक्षामें पृथ्वी औ
आकाशका सा अन्तर होगा। किन्तु यह स्वीकार कर
ही पड़ेगा कि धर्म्मत्वस्वरूपसे सब स्थानमें ही धर्म्म है; ज
नदीगर्भकी निम्नता है वहां जलकी गम्भीरता हो
और जहां नदीगर्भकी निम्नता नहीं है वहां नदी गम्भी
रताहीन रहेगी; किन्तु नदीका प्रवाह सब स्थानों
समान ही रहेगा, इसमें सन्देहही नहीं। इस प्रकार धर्म्म
सार्व्वभौम भित्ति पर स्थित रहकर पूज्यपाद महर्षिग
ने धर्म्मशास्त्रप्रणयन किया है। यदिच कहीं धर्म्मके स्थू
रूपके साथ उसके सूक्ष्मरूपको मिलाते हुए कोई को
धर्म्मजिज्ञासुगण कभी कभी दोनोंको एक अवस्थाप
अनुमान करके मुग्ध हो जाया करते हैं; परन्तु सार्वभौ
विज्ञानयुक्त दृष्टिसे देखने पर अपने शास्त्रोंमें सन्दे
रह ही नहीं सक्ते।

कन्याविवाहकाल निर्णय करते समय पूज्यप
महर्षिगणने अष्ट वर्षसे लेकर दश वर्ष तक समय निय
किया है*। किसी किसी ग्रन्थमें कुछ मतान्तर भी पा
जाता है; परन्तु यह मत सबसे पूर्ण और विस्तृत है
यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि सृष्टि-क्रियामें ना
देह ही प्रधान है, इस कारण उसका पूर्णरूपसे शुद्ध रख

---

* अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥
महर्षि पराशर।

परम आवश्यकीय है। अब विचारनेका विषय यह है कि नारीदेहमें अपवित्रता और चञ्चलता आदिका प्रकट होना कबसे सम्भव है। बुद्धिमान्मात्र ही जब बालक और बालिकाकी प्रकृति पर ध्यान देंगे तो यह स्पष्ट-रूपसे जान सकेंगे कि बालकमें पुरुषभावका उदय सप्तदश अथवा अष्टादशवर्षसे कममें नहीं हुआ करता; परन्तु बालिकामें नारीभावका उदय बहुत शीघ्रही हो जाया करता है। इस में सन्देह नहीं कि बालिकाकी प्राकृतिक पूर्णता त्रयोदश अथवा चतुर्दशवर्षसे कममें होना प्रायः असम्भव है, किन्तु विचारशील मनुष्यगण स्थिरबुद्धि होकर बालिकाप्रकृति पर दृष्टि डालनेसे स्वतः ही जान सकेंगे कि अष्ट वर्ष अथवा नव वर्षमें ही बालिकाशरीरमें नारीगत भावोंकी स्फूर्ति होना प्रारम्भ हो जाता है। बालक और बालिका इन दोनोंके शरीरकी प्रकृतिको जब देखते हैं तो यही सिद्धान्त होता है कि अष्ट वर्ष का बालक परमहंसवत् निर्द्वंद्व ही रहता है; परन्तु अष्ट अथवा नव वर्षकी कन्या अपने आपको नारीशरीर मानकर लज्जा, शीलता, संकोच आदि गुणोंसे युक्त हो जाती है। फलतः जिस समयसे नारीशरीरमें नारीगत-चञ्चलताका उदय होना सम्भवहै उसी समय उसका विवाह कर देनेसे उस नारीशरीरकी पूर्ण शुद्धता स्थापन करनेका उपाय हो सक्ता है। अज्ञानसे अन्ध जीवके अर्थ संस्कार ही बन्धन और मोक्षका हेतु है; अतः सकल आर्य्यधर्म्मशास्त्रोंने संस्कारोंको इतना माना है। इसी कारण गृहस्थगणके अर्थ दश संस्कारोंकी विधि इतनी दृढ़ताके साथ निर्णीत की गई है। मनुष्यके

चित्त पर संस्कारोंका बड़ा भारी आधिपत्य होता है, जिस प्रकार मेंड़ बांध कर जलके बहावको सुधार दिया जाता है, अर्थात् वह जल तब मेंड़से बाहर न बहकर, सरलताके साथ एक स्थानसे दूसरे स्थानको बह जाता है, उसी रीतिके अनुसार संस्कार द्वारा सीमाबद्ध चित्त पुनः इधर उधर नहीं बहँकता और उन जमाये हुए संस्कारोंके अनुसार अपने स्वधर्म्मका पालन करनेमें समर्थ हो सक्ता है । अपिच जिस समयमें नारीदेहमें प्राकृतिक परिवर्त्तन होनेकी सम्भावना रहती है उससे पूर्व्व यदि बालिकाके अन्तःकरणको विवाह संस्कार द्वारा संस्कृत करके सीमाबद्ध करा दिया जाय तो पुनः उस नारीशरीरमें अपवित्रताका दोष लगही नहीं सकेगा ।

स्थूल विचारोंमें मतभेद रहनेकी सम्भावना है क्योंकि विज्ञानकी सूक्ष्म गति एक ही होने पर भी उसका स्थूल-कार्य्य-प्रवाह जब उत्पन्न हो जाता है तो वहां उसके भावमें भेद पड़ने लगता है । सूक्ष्म विज्ञानमें जिस प्रकार वैषयिक स्थूल भावोंकी न्यूनता हो जाती है, उसी रीतिके अनुसार स्थूल विषयोंके विचारमें सूक्ष्म विचारशक्तिकी न्यूनता होनी स्वतःसिद्ध है । उदाहरणस्थल पर समझ सक्ते हैं कि जन्मपत्री देख कर सुविज्ञ ज्योतिर्विद्गण सब एकमत हो सक्ते हैं परन्तु कररेखा देखकर सूक्ष्मगणनाके विषयमें मतभेद होना सम्भव है । इसी कारणधर्म्मका आदि विज्ञान निर्णीत करते समय धर्म्माचार्य्योंके मतमें, कुछ भी विरोध होनेकी सम्भावना न रहने पर भी, उनके स्थूल धर्मानुशासनमें

कभी कभी मतकी पृथक्ता देखनेमें आया करती है। नारीके साधारणधर्म्म निर्णय करते समय सब आचार्य्य एकमत हैं। रजस्वला होनेसे पूर्व कन्याका विवाह कर देना सर्वसम्मत सिद्धान्त है। केवल रजस्वला होनेसे पहले विवाहकालमें मतभेद है। अस्तु नारी विवाह-कालके विषयमें स्मृतिकार गण यदि एकमत न हो सकें, तो कुछ आश्चर्य्यका विषय नहीं है। परन्तु उनके मतमें पृथक्ता कुछ भी हो, अष्ट वर्षसे न्यून समयमें विवाह देनेके लिये किसी की भी आज्ञा नहीं है। फलतः यदि नारी-शरीरकी पूर्ण शुद्धि पर दृष्टि रहे तो पूर्ण सावधानता अवलम्बन करना युक्तियुक्त होगा। इस कारण धर्म्माचार्य्यगणने भी अपनी दूरदर्शिता द्वारा वैसी ही वर्णाश्रमधर्म्मपवित्रकारी एवं नारीधर्म्मरक्षाकारी आज्ञाका प्रकाश किया है। अर्थात् कन्याविवाहकालके लिये * अष्टवर्ष सर्वोत्तम, नववर्ष मध्यम और दशवर्ष साधारण काल समझा गया है। उसके पीछेका काल धर्म्मविरुद्ध समझा जाता है। यद्यपि इस प्रकारकी शास्त्रीय आज्ञा द्वारा अष्टम वर्षसे लेकर दशम वर्ष पर्य्यन्त कन्याका विवाहकाल निर्णीत किया गया है और इस कालनिर्णयके विषयमें भी मतभेद है; परन्तु इस विचारके द्वारा यह तात्पर्य्य न समझा जाय कि पूर्णवयस्का होनेसे पहले ही स्त्रीसङ्ग करनेके लिये पूज्यपाद

---

* गौरीं ददद् विष्णुलोकं ददद् ब्राह्मं तु रोहिणीम् ।
कन्यां ददत् स्वर्गलोकं रौरवन्तु रजस्वलाम् ॥

महर्षिवेदव्यासः ।

महर्षियोंने सम्मति दी है। इस प्रकारकी आज्ञाका कारण अतिदूरदर्शितासे पूर्ण है। स्त्रीप्रकृति स्वभावतः मोहमयी और चञ्चला है; उसका पूर्णरूपसे शुद्ध रहना तभी सम्भव है कि नारीशरीर अपनी चञ्चलताको प्राप्त करनेसे पूर्व्व ही विवाह संस्कार द्वारा पतिकेन्द्रस्थापनपूर्व्वक सीमाबद्ध होजाय, तो उस अन्तःकरणमें पुनः चञ्चलता होने पर भी अन्य अधर्म्मसंस्कार न पड़ सकेंगे।

पूर्वकथित सब विचारोंसे यह निर्णय हुआ कि जब समष्टि-व्यष्टि-विज्ञानसे पुरुष और नारीका सम्बन्ध ईश्वर और महामाया मूलप्रकृतिसे मिलाया जाता है तो यह सिद्धान्त होता है कि नारीका विवाह पतिसे होते ही वह सर्वथा स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरसे पतिके अधीन हो जाया करती है। सृष्टिविज्ञानसे नारी सम्पूर्ण रूपसे पराधीना होनेके कारण सतीत्व की रक्षा ही नारीका प्रधान धर्म्म है। धर्म्मशास्त्रविरुद्ध, लोकअकीर्तिकर और पाप-जनक विधवाविवाह का सिद्ध होना तो सम्भव ही नहीं, किन्तु मनसे भी नारी परपुरुषके सङ्गसे कलङ्कित होने पर दूषित हुआ करती है। कहीं कहीं हमारे पुराणादि शास्त्रोंमें किसी किसीका पत्यन्तरग्रहण करनेका उदाहरण मिलता है, परन्तु वे सब उदाहरण गौण एवं निन्दनीय पक्षमें हैं, आदर्श धर्म नहीं है। अब भी जो स्त्री आदर्शधर्म्मपालन न कर सके वह अपेक्षाकृत अधोगतिसे अपने आपको बचानेके लिये अन्य गौणधर्म्मका आश्रय ग्रहण कर सक्ती है परन्तु वह समाजमें अवश्य निन्दनीय होगी। एक नारीके साथ दो पतिका सम्बन्ध आर्य्यजातिमें हो ही नहीं सक्ता, इस विषयको अन्य बाह्य युक्ति द्वारा भी प्रति-

पन्न कर सक्ते हैं। प्रधान युक्ति यह है कि, सनातनधर्म्मा-
नुसार कन्याका दान करना ही कहा गया है; दान क
हुई वस्तु पर पतिका ही पूर्ण स्वत्व रहा करता है
विधवाविवाहके नाममात्रसे आर्य्यजातिभावको कल
लगा करता है। क्योंकि नारीसमाजमें सतीत्वरक्षा
विरुद्ध जो संस्कार फैलाया जायगा उससे स्त्रीजाति
हृदयसे परम पवित्र मनुष्यसमाजमङ्गलकर सतीधर्म्मके
आदर्श (नमूना) संस्कारका लोप हो जाना सम्भव है
यह सनातनधर्म्मके ऐसे पवित्र अनुशासनोंका ही कार
है कि आर्य्यजातिकी ऐसी अधःपतित दशामें भी ह
लोगोंको हमारे समाजमें आदर्शसतियोंका दर्शन कभ
कभी हुआ करता है। जगत्पवित्रकारी वह पवित्र
दृष्टान्त पृथ्वीकी और किसी जातिकी स्त्रियोंमें नहीं
दिखाई पड़ता।

अदूरदर्शी तथा पश्चिमी शिक्षासे मोहान्ध पुरु-
गण जो अब नारियोंको स्वाधीनता देकर उनके सती-
त्वनाश करानेके अर्थ अनेक प्रकारके धर्म्मभ्रष्टकारी
उपाय करते जाते हैं उनको रोक कर आर्य्य नारीगण
की पवित्रता रक्षा करनेमें अब विशेष रूपसे यत्न होना
उचित है। जिससे आर्य्यनारियोंमेंसे त्रिलोकपवित्रका
सतीत्व धर्म्मके आदर्शका लोप न होजाय, ऐसे
उपाय सर्वदा करणीय है। अदूरदर्शियोंके फैलाये हुए
सतीधर्म्मविरुद्ध संस्कारोंका प्रभाव नारी जाति पर न
फैलने पावे, ऐसी धर्म्मानुकूल उत्तम शिक्षा कन्यागणको
प्रथम अवस्थासे ही देनी उचित है। कन्याओंकी शिक्षाके
लिये धर्म्मभावपूर्ण शिक्षाशैली प्रचलित होना उचित है

परन्तु धार्मिक शिक्षा स्त्रियोंको प्राचीन कालमें जैसी दी जाती थी, वैसी धर्म्मभावपूर्ण स्त्रीशिक्षाके पुनः प्रचार होनेसे क्षेत्रदोषोंका नाश अवश्य ही होजायगा। नारीगण समाजका प्रधान अङ्ग हैं; उनकी शुद्धिसे समाजके रोगोंका नाश होगा इसमें सन्देह ही नहीं।

प्राचीन कालमें परदेकी रीति नहीं थी परन्तु स्त्रियोंको स्वाधीनता देना महर्षिगणकी सम्मतिसे सर्वथा विरुद्ध है*। उनको पराधीन रखकर उनकी उन्नतिकी चेष्टा करना ही सनातनधर्म्म है। स्त्री और पुरुष दोनोंका समाजमें समान अधिकार कदापि नहीं हो सक्ता। अपने अपने धर्म्मानुसार स्त्री और पुरुषके अधिकार अलग अलग रहनेसे ही आर्य्यजातिभावकी पुष्टि हो सकेगी। नारीजातिकी पवित्रतावृद्धि और उसकी आध्यात्मिक उन्नति जितनी की जायगी उतनी वर्त्तमान सामाजिक रोगकी शान्ति होगी। सामाजिक औषधिका शीघ्र फल होगा और कामज सन्ततिके स्थानपर धर्म्मज सन्तति उत्पन्न होने लगेगी। चारों वर्ण और चारों आश्रमोंकी शुद्धि हो सकेगी और तपस्वी ब्राह्मण एवं

* पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥
इति महर्षिमनुः॥

आजकलके नवशिक्षित विलासिताप्रिय युवकगण कहते हैं कि ऋषिगण स्त्रीजातिकी स्वाधीनता हर कर उन पर अत्याचार कर गये हैं, यह विचार उनका प्रमादमूलक है। जो पदार्थ जिसको अधिक प्यारा होता है उसीकी रक्षामें वह विशेष यत्न करता है।

तेजस्वी क्षत्रियगण पुनः भारतवर्षमें दिखाई देकर आर्य्यजातिका कल्याणसाधन कर सकेंगे।

नारी जातिको सतीत्वधर्म्मरक्षाके अनुकूल सत् शिक्षा देनेसे और पुरुषोंको प्रथमावस्थामें ब्रह्मचर्य्यव्रतका पालन कराकर उनको धर्म्मानुकूल सत्‌शिक्षा देनेसे इस समयके सामाजिक प्रबल रोगमें सुपथ्यप्रयोग हो सक्ता है। यदि स्त्रियों और पुरुषों के लिये उपयोगी स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्‌शिक्षाका प्रचार नहीं किया जायगा तो विरुद्ध फल अवश्य सम्भावी है। यूरोप और अमेरिकामें धर्म्मानुकूल सत्‌शिक्षाके अभावका ही कारण है कि वहांकी स्त्रियां दिन प्रतिदिन पुरुषभावापन्ना और विपथगामिनी होती जाती हैं; और वहांके शिक्षित समाजमें अनार्किस्ट, निहिलिस्ट आदि राजविद्रोही दलकी वृद्धि होती जाती है। यदि भारतवर्षमें यथादेश-काल-पात्र तथा धर्म्मानुकूल स्त्रीशिक्षा और पुरुषशिक्षाका प्रचार न होगा तो पाश्चात्य शिक्षाके कुफल द्वारा यहांकी प्रजाकी भी वैसी ही शङ्कान्वित दशा हो जायगी और सामाजिक रोग बढ़जानेसे चिकित्सा करना अति कठिन होजायगा। सुतरां यथायोग्यरूपसे विद्याका प्रचार किये विना इस घोर रोगकी शांति होना असम्भव है। सब प्रकारके यथार्थ सुखोंका मूल विद्या है। जिससे अविद्या दूर हो, उसको विद्या कहते हैं। विद्या ज्ञानकी जननी है। साधकमें विद्याकी जितनी अधिकता होती है, उतनी ही उसकी ज्ञानदृष्टि बढ़ती है; परन्तु जब तक विद्याशक्तिकी वृद्धि नहीं होती है, तब तक साधकमें भ्रम दूर होकर

निश्चयात्मिका वृत्ति नहीं आती। विद्याका यह स्वरूप पूज्यपाद ऋषिगणको भलीभांति विदित था। परन्तु इस कालमें पदार्थसम्बन्धीय विचार और साधारण ज्ञानवृद्धिको ही लोग विद्या मानने लगे हैं। इस कारण जितने प्रकारकी शिक्षाप्रणालियाँ आज कल भारतवर्षमें प्रचलित हैं उन सबोंमें बड़ी बड़ी त्रुटियां प्रतीत होती हैं। क्या संस्कृत के विद्यार्थी गण और क्या अन्य भाषाओंके विद्यार्थी गण सबही यथावत् शास्त्रीय ज्ञान लाभ करने पर भी उनमें प्रायः यथार्थ विद्याके लक्षण प्रकाशित नहीं होते। इसलिये उनमें क्रमशः विरुद्ध लक्षण प्रकाशित होकर वे सदाचार और धर्म्मसे विपरीत मार्गोंमें चलते हुए दिखाई पड़ने लगते हैं। आज कलके सब चिन्ताशील पुरुषोंने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है कि भारतवर्ष भरमें जितने प्रकारकी शिक्षाप्रणालियाँ आज कल प्रचलित हैं वे सबही असम्पूर्ण और सदोष हैं। उन प्रणालियोंके द्वारा आर्य्य जाति पूर्णरीतिसे लाभ नहीं उठा सक्ती। इस समय उच्चशिक्षाप्राप्तिके तीन उपाय दिखाई पड़ते हैं, यथा-प्रथम प्राचीन ढंग पर संस्कृतविद्याभ्यासकी शैली, द्वितीय नवीन यूनिवर्सिटियोंके ढंग पर संस्कृतविद्याके अभ्यासकी शैली और तीसरी अंग्रेजी भाषाकी सहायतासे ज्ञानार्जनकी शैली। प्रथम तो धार्मिक शिक्षा देनेकी रीति किसी शैलीमें भी प्रचलित नहीं है। अस्तु, ऋषिकालमें जो शिक्षाप्रणाली भारतवर्षमें प्रचलित थी उसके साथ वर्त्तमान शिक्षाप्रणालियोंका भेद पड़ गया है, इसमें सन्देह ही नहीं।

विद्याप्राप्ति करनेके लिये हमलोगोंका अब प्रधान आश्रय मातृभाषाहै। परन्तु उसकी पूर्णरीतिसे सहायता हमको नहीं मिलती। प्रथम ते। भारतवर्षके सकल प्रदेशों की देशभाषा आज तक असम्पूर्ण है और द्वितीयतः अंग्रेज़ी भाषाके ही अनुकरण पर बहुत ही साधारण रीतिके अनुसार देशभाषाके पठन पाठनकी निम्नश्रेणीकी शिक्षाकी शैली निहित होनेसे, उस शिक्षा द्वारा आज दिन भारतवासियोंके पूर्ण कल्याणकी आशा नहीं है; क्योंकि जब उसमें शिक्षा ही बहुत थोड़ी दी जाती है तो फल भी असंपूर्ण होगा, इसमें सन्देहही क्या है? अंग्रेजी विद्या-शिक्षासे यदिच भारतवासियोंको बहुत कुछ लाभ पहुंचता है, एवं लौकिकशिक्षाके विषयमें बहुत कुछ लाभ पहुंचनेकी आशा है परन्तु केवल मात्र उस भाषाकी उन्नति द्वारा भारतवासियोंके पूर्णकल्याणकी आशा नहीं है। यदिच यावन्मात्र पदार्थविद्याका ज्ञान इस भाषा द्वारा प्राप्त हो सक्ता है तथापि पश्चिमी विद्वानोंका लक्ष्य एकबार ही आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर न रहनेसे इस भाषाद्वारा सर्वसाधारणकी आध्यात्मिक उन्नतिकी आशा कुछ भी नहीं है। विशेषतः अंग्रेजीभाषा विदेशीय होनेके कारण इस भाषामें पूर्ण योग्यता लाभ करनेके अर्थ प्रथम तो बहुत कालकी आवश्यकता है और दूसरे यह भी कदापि सम्भव नहीं कि सर्वसाधारण भारतवासी अंग्रेजीभाषाका अभ्यास करें। इस कारण अंग्रेजीभाषामें गुण अनेक रहने पर भी इस भाषाकी शिक्षाद्वारा न तो आध्यात्मिक उन्नति-

की ही सम्भावना है और न सर्व्वसाधारण भारत-
वासियोंके अर्थ ही इस भाषाकी शिक्षा उपकारी हो
सक्ती है।

प्राचीन कालमें नाना कारणोंसे संस्कृतविद्याके
प्रत्येक विभागकी शिक्षाके अर्थ अधिक समय दिया जाया
करता था, उसी रीति पर अब भी प्राचीन संस्कृतविद्या-
शैली प्रचलित है। उदाहरणस्थल पर समझ सक्ते हैं कि
आज दिन प्राचीन रीति पर जो काशी आदि स्थानोंके
विद्यालयोंमें व्याकरणके अभ्यासकी शैली प्रचलित है
अथवा नदियामें जो नवीन न्यायदर्शनपाठ करनेकी शैली
प्रचलित है, उन पठन-शैलियों में युगयुगान्तर लग जाने
पर भी न तो उन विद्यार्थियोंको सर्व्वदेशीय विद्याकी
योग्यता ही आ जाती है और न उस शिक्षाके द्वारा आ-
ध्यात्मिकउन्नतिकी ही प्राप्ति होती है। वर्त्तमान संस्कृत-
विद्याकी शिक्षाप्रणाली जितनी सूक्ष्मदृष्टिसे देखी जाती है
उतना ही समझा जा सक्ता है कि इस प्रणालीका संस्कार
होना बहुत ही आवश्यकीय है। विद्यार्थियोंको प्रथम
अवस्थामें ऋषिप्रणीत काव्यसमूह न पढ़ाकर उनको
लौकिक काव्य पढ़ाये जाते हैं इस कारण उनकी आध्या-
त्मिक उन्नति होनेमें बाधा पड़ती है। संस्कृतके पण्डितोंमें
यथार्थरूपसे तत्त्वज्ञानके उदय न होनेका प्रधान कारण
यह है कि दार्शनिक विद्यार्थीगण सप्त दर्शनके सम्पूर्ण वि-
ज्ञानके सम्बन्धमें शिक्षा प्राप्त नहीं करते और केवल दो
एक दर्शन सिद्धान्त पढ़ करके दार्शनिक पण्डित बन
जाते हैं। पृथिवीके अन्यदेशीय दर्शनोंके सदृश हमारे

दर्शनशास्त्र कल्पनासम्भूत नहीं हैं; वे अनादिसिद्ध अभ्रान्त सिद्धान्तोंसे पूर्ण हैं। विशेषतः हमारे सब दर्शन-सिद्धान्तसमूहको यथाक्रम हृदयङ्गम करनेसे तब तत्त्व-ज्ञानका सूत्रपात हो सक्ता है । केवल मात्र दो एक दर्शन-शास्त्रके पाठ करनेसे बुद्धिका वैसा विकाश नहीं हो सक्ता । इस प्रकारसे जितनी चिन्ता की जायगी उतनी ही वर्त्तमान शिक्षाप्रणालीकी असम्पूर्णता अनुभव करनेमें आवेगी ।

आज दिन जो "यूनिवर्सिटी" की रीति पर संस्कृत विद्याभ्यासकी नवीन रीति प्रचलित है उसमें संस्कृत विद्याका यद्यपि कुछ साधारण ज्ञान हो जाता है, परन्तु न तो उस शैली से विशेष आवश्यकीय विषयोंका ज्ञान होता है और न आध्यात्मिकशिक्षाकी कुछ प्राप्ति होती है । प्राचीन संस्कृतशिक्षा पूर्ण, परन्तु एकदेशीय होनेके कारण, एवं नवीन संस्कृतशिक्षा विस्तृत परन्तु असम्पूर्ण रहनेके कारण, वर्त्तमान दोनों प्रकारकी भी संस्कृतशिक्षाप्रणाली भारतवर्षके सर्व्वसाधारणजनोंको पूर्ण फलदायी नहीं हो सक्ती है । विशेषतः इन दोनों संस्कृतशिक्षाशैलियोंमें वर्त्तमान देश, काल, पात्र, सम्बन्धीय ज्ञानप्राप्तिकी तो कोई रीति रक्खी ही नहीं गई है; इस कारण प्रथम तो आध्यात्मिकज्ञानपूर्णताके अभावसे और दूसरे आवश्यकीय लौकिकविद्याकी शिक्षाके अभावसे, आज कलके संस्कृत विद्वान् प्रायः देश, काल, पात्रके विषयमें एवं धर्म्मरहस्यनिर्णयमें अंग्रेजी भाषाके विद्वानोंके सन्मुख स्वतः ही निरुत्तर हो जाया करते हैं ।

आर्य्यसन्तानोंमें जिस प्रकारकी आज कल शिक्षा
हुआ करती है उससे दिन प्रति दिन आर्य्यजनोंमें
स्वार्थ-परता की वृद्धि होती जाती है अर्थात् आर्य्यसन्ता-
नोंकी दृष्टि शरीरसम्बन्धी व्यापारों पर ही बढ़ती जाती
है और उनमेंसे धर्म-भाव और निष्कामकर्त्तव्यका
नाश होता जाता है। जबतक सदाचार एवं धर्म्मशिक्षा-
की शैलीका प्रचार उनमें न होगा तबतक कदापि आर्य्य-
जातिकी उन्नति होनी सम्भव नहीं है। बालकोंको जिस
प्रकारसे आजकल पढ़ाया जाता है उस प्रकारके अभ्यास
द्वारा वे कदापि सदाचार एवं धर्म्मशिक्षामें अपने आपसे
उन्नत नहीं हो सकेंगे। फलतः आजकल केवल मुखसे
जो "धर्म्म" "धर्म्म" कहनेकी रीति प्रचलित होती जाती
है वैसे वाचनिक धर्म्मसे भारतका कल्याण होना सर्वथा
असम्भव है; जब तक धर्म्मके साधन पर भारतवासियों-
की रुचि नहीं बढ़ेगी तब तक वे कदापि उन्नतिको नहीं
प्राप्त होंगे। जिस शिक्षाके द्वारा इच्छा शक्तिका वेग
और उसकी स्फूर्ति धर्म्मानुकूल होकर अपने स्वाधीन
और सफलकाम होती है, जिस शिक्षाप्रणाली द्वारा
मनुष्योंमेंसे स्वार्थपरताका नाश होकर स्वजातिप्रेम
और जगत्के कल्याणकी बुद्धिका अधिकार प्राप्त होता है
उसी शिक्षाको यथार्थ शिक्षा कह सक्ते हैं। पूर्व्वकथित
विचारोंसे यही सिद्धान्त हुआ कि आज कलकी सब
पठनशैली असम्पूर्ण हैं अतः यथार्थ विद्याकी प्राप्तिके
लिये प्राचीन ऋषिकालके आदर्श पर किसी नवीन पठन-
शैलीका आविष्कार किया जाय, और साथही साथ
धार्मिक शिक्षा देनेका प्रधान लक्ष्य रक्खा जाय।

श्रीमहामण्डलका विद्याप्रचारविभाग सम्पूर्ण-रूपसे स्वतन्त्र ही रहना चाहिये, क्योंकि इस कार्य्यवि-भागको बिना स्वातन्त्र्य दिये धर्म्मकार्य्य की उन्नति नहीं होगी। जब तक पूर्ण रीतिसे नवीन पठनशैलीका ठीक ठीक आविष्कार न हो तब तक यही लक्ष्य रक्खा जाय कि वर्तमान यथादेशकाल विद्याप्राप्तिके मार्गका निश्चय करनेके लिये सदा विचार रहे। विद्यार्थीगण किस प्रकारसे यथार्थ विद्याको प्राप्त कर सक्ते हैं, कैसे वे ब्रह्मचर्य्य व्रतके अधिकारी हो सक्ते हैं, कैसे वे देश-कालज्ञ और स्वदेशहितैषी बन सक्ते हैं, कैसे वे अपने स्वार्थोंको कम करते हुए वर्णाश्रम धर्म्मकी उन्नति करने-में समर्थ हो सक्ते हैं और कैसे वे अपने अभावोंका संकोच करते हुए ज्ञानवान् होकर मनुष्यत्वको प्राप्त कर सक्ते हैं इसकी खोज सदा की जाय और जो जो सुगम उपाय निश्चित होते जायँ उन्हींके अनुसार भारत-वर्ष भरके संस्कृतविद्यालयोंमें शिक्षाप्रणाली प्रचलित कराई जाय।

केवल पातिव्रत धर्म्मपालनके द्वारा और मन तथा शरीरको पवित्र रखनेसे ही नारीगण कल्याणमार्ग को प्राप्त कर सक्ती हैं। केवल पतिपरायणा सती गृहिणी बनाना ही स्त्रीशिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। परन्तु पुरुषशिक्षाके देनेमें बहुत कुछ चिन्ता और विस्तृत प्रणालीके अनुसरण करनेकी आवश्यकता है, तथापि संक्षेपसे यही कहा जा सक्ता है कि प्रथम अवस्थामें उनको ब्रह्मचर्य्यव्रतका पालन कराकर अन्य आश्रमों-

का अधिकारी बनानेके अर्थ उपयुक्त करना उचित है। मन, वायु और वीर्य्य तीनों कार्य्यकारण सम्बन्धसे एक ही पदार्थ हैं। जिस प्रकार स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीर एक दूसरेसे सम्बन्धयुक्त हैं उसी प्रकार वीर्य्य, वायु और मन ये तीनों परस्पर एक ही सम्बन्धसे स्थित हैं। इन तीनोंमेंसे एकको वशीभूत करलेनेसे अन्य दो वशीभूत हो जाते हैं; तत्त्वदर्शी योगिगणका यही सिद्धान्त है। परन्तु जीवका प्रथम सम्बन्ध स्थूल शरीरसे रहनेके कारण वीर्य्यरक्षामें परम सहायक ब्रह्मचर्य्य व्रत पुरुष-शिक्षाके लिये परम आवश्यकीय है। अतः ब्रह्मचर्य, सदाचार, धर्म्म-शिक्षा, देश-काल-ज्ञान, स्वदेशानुराग आदिको लक्ष्य रख कर पुरुष-शिक्षाका प्रवर्त्तन होना कर्त्तव्य है।

लौकिक शिक्षाके प्रचार करनेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रका विचार कदापि करना उचित नहीं है। धर्म्मके क्रिया सिद्धांशकी शिक्षा देनेमें और वेद तथा वैदिक विज्ञानकी शिक्षा देनेमें अवश्य ही वर्णाश्रमके अधिकारका विचार रखना कर्त्तव्य है। परन्तु आर्य्य-जातिके पुनरभ्युदयके अर्थ जब तक सार्वजनिक शिक्षाका विस्तार न किया जायगा तब तक सफलताकी सम्भावना नहीं है। भारतविजयके समय मुसलमान जेता कितना सेना-बल लाये थे? भारतको अपने अधीन करते समय अङ्गरेज जातिके साथ कितनी सेना थी? छः अथवा आठ रुपयेके लिये अपने अपने पिता और भ्राताओंका गला काट सकें, ऐसे लक्ष लक्ष

मनुष्य इस भारतके अतिरिक्त और किस देशमें विद्यमान हैं? सात सौ वर्षके मुसलमानसाम्राज्यमें छः कोटि मुसलमान और सौ वर्षके ईसाई साम्राज्यमें पचास लाख ईसाई हो जानेका प्रधान कारण क्या है? अर्थलोलुप विदेशीय वणिकोंके थोड़े ही यत्न द्वारा भारतवर्षके अमूल्य शिल्पराशिका नाश क्यों होगया है? परमोदार समदृष्टिसम्पन्न सनातनधर्म्ममें घोर अमङ्गलकर साम्प्रदायिक विरोधका कारण क्याहै? जिन महर्षिगणके उपदेशसमूहमें कहीं भी अन्यधर्म्मविद्वेषकी छाया मात्र भी नहीं पाई जाती, उनके ही वंशधरोंमें स्वधर्म्मविद्वेष और स्वधर्म्मिविद्वेषका घोर अनल प्रज्वलित होनेका प्रधान कारण क्या है? जिस आर्य्यजातिके आदिनेता और आदिशिक्षक पूज्यपाद महर्षिगण अपने स्वार्थको सम्पूर्णरूपसे त्याग करते हुए केवलमात्र जगत्कल्याणकामनाके वशीभूत हो परोपकारव्रतपरायण होकर जीवनयात्रा निर्व्वाह करते थे, आज उनके ही वंशसम्भूत क्या गृहस्थ और क्या सन्यासिगण घोर आलस्यपरायण स्वार्थपर और प्रमादग्रस्त होते हुए भी प्राचीन परिचय देते हुए लज्जित क्यों नहीं होते हैं? विचारवानोंका यही सिद्धान्त है कि भारतवर्षकी सकलश्रेणीकी प्रजामें अज्ञानका घोर प्रभाव ही इसका प्रधान कारण है। सार्व्वजनिक शिक्षासे ही यह अभाव दूर हो सकेगा।

नामके साथ विषयका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा करता है, नामका प्रभाव भी भावशुद्धिका कारण हुआ करता है अतः श्रीभारतधर्ममहामण्डलके विद्याप्रचार-

विभागका नाम विद्याकी अधिष्ठात्री देवीके नामानुसार "श्रीशारदामण्डल" होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। विद्यापीठ श्रीकाशीपुरीमें इस कार्य्यविभागका केन्द्र-कार्य्यालय रखना कर्तव्य होगा। उसी कार्य्यालयके अधीन एक आदर्श महाविद्यालय और कई एक विद्यालय रहकर इस विभागको दृढ़ता सम्पादन करेंगे। काशीपुरीके अतिरिक्त, श्रीनगर (कश्मीर), उज्जैन (अवन्तिका) मथुरा (मधुपुरी), नदिया (नवद्वीप), पूना (पुण्यपत्तन), दरभङ्गा (मिथिला) और काञ्ची ये जो प्राचीन विद्यापीठ हैं, उनमें भी एक एक महाविद्यालय स्थापित करके प्राचीन विद्याशक्तिका आविर्भाव किया जाय। और इसी कार्य्यविभाग द्वारा भारतवर्षके सनातन धर्म्मावलम्बियोंकी जितनी संस्कृत पाठशालाएँ हैं उनकी शिक्षा-प्रणालीका संस्कार कराकर उनकी उन्नति की जाय। साथही साथ सदाचारपालन और स्वास्थ्यरक्षाके सद्विचारोंके साथ छात्रालयोंकी स्थापना भी की जाय और प्राचीन आचार्य-कुलवासकी रीति पर द्विजबालकोंको यज्ञोपवीतके अनन्तर समावर्त्तन न कराकर तथा ब्रह्मचर्य्य आश्रममें रखकर प्राचीन रीत्यनुसार वेद-शास्त्रकी शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया जाय। इस कार्य्यके अर्थ काशी तथा अन्यान्य स्थानोंमें, नगरसे कुछ दूर पर किसी रम्यस्थानमें ब्रह्मचारीआश्रम स्थापित किये जावें। परन्तु ऐसे आश्रमोंमें विशेष विशेष योग्यता रखनेवाले विद्यार्थी ही लिये जायँ। इस प्रकार शिक्षा-कार्य्य सार्व्वजनिक न होगा और काशी आदि स्थानोंमें चल निकलने पर अन्यान्य स्थानोंमें भी इसका प्रबन्ध

बहुत ही विचारके साथ कराना और धर्म्मसभाओंको ऐसे कार्य्योंमें दत्तचित्त होनेके लिये प्रवृत्ति देना उचित होगा । योगसाधन द्वारा वीर्य्यरक्षाकी सहायता और नित्य संकल्प मन्त्रके संस्कार द्वारा ज्ञानवृद्धि और स्वदेशानुराग आदि सत्वृत्तियोंकी उन्नति करानेमें यत्न करना युक्तियुक्त होगा । ऐसे ब्रह्मचारीआश्रमोंके नाम भी विशेष रीतिसे रखने पर लाभजनक होंगे । उन ब्रह्मचारीआश्रमोंके नाम प्रतिष्ठाता, नेता अथवा आचार्य्योंके गोत्रानुसार पूज्यपाद महर्षियोंके नाम पर रखनेसे अनुकूल होगा । यथा,—श्रीभरद्वाजआश्रम, श्रीशाण्डिल्यआश्रम इत्यादि ।

विना मातृभाषाकी उन्नतिके किसी जातिकी पूर्ण उन्नति नहीं हो सक्ती; विना मातृभाषाकी उन्नतिके स्वधर्म्मका पूर्ण विकाश नहीं हो सक्ता; मातृभाषाकी उन्नतिके विना कोई मनुष्यजाति शीघ्र सफलतालाभ नहीं कर सक्ती । विना मातृभाषाकी उन्नतिके देशमें ज्ञानका पूर्ण रूपसे विस्तार होना असम्भव है; विना मातृभाषाकी उन्नतिके देशका गौरव कदापि वृद्धिको प्राप्त नहीं हो सक्ता; विना मातृ-भाषाकी उन्नतिके कोई जाति भी अपने स्वजातिभावकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सक्ती; और विना मातृभाषाकी रक्षामें सफलकाम हुए कोई मनुष्य कदापि पूर्ण मनुष्यत्वको प्राप्त नहीं कर सक्ता । इस समय भारतवासियोंकी मातृ-भाषाके स्थानमें विशुद्ध हिन्दी भाषाको ही समझ सक्ते हैं; थोड़ा सा यत्न करने पर ही यह भाषा सर्व्वसाधारण

भारतवासियोंके लिये केन्द्ररूपसे स्थापित हो सक्ती है। फलतः अब दृढ़व्रत हो कर विद्वान्‌लोगोंको ऐसा यत्न करना उचित है कि जिससे एक वृहत् शब्दकोष-के संग्रहसे और व्याकरण, दर्शन, काव्य और नाना आवश्यकीय ग्रन्थोंके प्रणयनसे यह मातृभाषा अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हो सके। तदनन्तर परम विशुद्ध स्वर्गीय संस्कृत भाषाको पितृस्थानीय और इस हिन्दी भाषा को मातृस्थानीय करके ज्ञानराज्यमें लालित पालित होने पर भारतवासियोंका सब अभाव शनैः शनैः दूर हो सकेगा। अपिच प्रथम तो हिन्दी भाषाकी पूर्णतासम्पादनके लिये प्रबल पुरुषार्थकी आवश्यकता है, और दूसरे उच्च कक्षाओंमें संस्कृत भाषाकी शिक्षा सुगम रीति पर देते हुए साथ ही साथ मातृ-भाषाके द्वारा देश-काल-ज्ञान-सम्बन्धी अन्यान्य शास्त्रोंका अध्ययन कराना युक्तियुक्त होगा। यदि ऐसा सुअवसर प्राप्त हो कि भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें एकमात्र हिन्दी भाषा ही मातृभाषा हो जाय तो बहुत ही लाभकी सम्भावना है। यदि ऐसा न हो सके तो अभी ऐसा यत्न होना चाहिये कि बंगाल, मद्रास, बम्बई, पञ्जाब आदि प्रान्तोंमें और देशीय रजवाड़ोंमें कि जहांकी विभिन्न मातृभाषाएँ उनके स्वतन्त्र स्वतन्त्र अक्षरोंसे लिखी जाती हैं वहां प्रवृत्ति दिला कर एकमात्र देवना-गरी अक्षरोंका प्रचार करवाया जाय। ऐसा होने पर सार्व्वजनिक क्रमोन्नति, विद्याका विस्तार और जातीय भावकी दृढ़तामें विशेष सहायता मिलेगी।

पूज्यपाद महर्षि-गण ने मनुष्योंके कल्याणार्थ विद्या-

के अनन्त भाण्डाररूपी अगणित संस्कृतग्रन्थ प्रणयन किये हैं। तत्त्वदर्शी पुरुषोंका यही सिद्धान्त है कि इस कल्पके उपयोगी सब विषयोंको वे त्रिकाल-दर्शी आचार्य्यगण सूत्ररूपसे अथवा संक्षेपतः संस्कृत भाषामें प्रकाशित कर गये हैं। परन्तु कालके प्रभावसे अब वैसे ग्रन्थोंका सहस्रांश भी नहीं मिलता। तथापि संस्कृत ग्रन्थोंका रहा सहा जितना अंश अब भी मिलता है उसकी रक्षाका विशेष रीति पर प्रबन्ध आर्य्यसन्तान मात्रको करना उचित है। यदि आर्य्यजातिका पुनरभ्युदय कभी होना सम्भव है तो अध्यात्मतत्त्वपूर्ण संस्कृतपुस्तकोंके अवलम्बनसे ही हो सकेगा। पुरुषशिक्षाके उपयोगी धर्म्मग्रन्थोंका बहुत ही अभाव हो गया है। वैदिकग्रन्थोंका तो सहस्रांश भी नहीं मिलता, दार्शनिक ग्रन्थोंमेंसे सिद्धान्तके सिद्धान्त लुप्त हो गये हैं। उदाहरण स्थल पर समझ सक्ते हैं कि वेदके कर्म्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डोंके अनुसार जो कर्म्म-मीमांसा, दैवी-मीमांसा और ब्रह्म-मीमांसाके स्वतन्त्र स्वतन्त्र अनेक सिद्धान्त ग्रन्थ थे, उनमेंसे दैवीमीमांसाका कोई भी ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकारसे सातों दर्शनसिद्धान्तके अनेकानेक ग्रन्थ लुप्त हो जानेसे दार्शनिकशिक्षामें बहुतही फेर पड़ गया है। विशेषतः किसी किसी दर्शनमें अनेक नवीन लौकिक ग्रन्थ बन कर लौकिक सुविधाके अर्थ उनका अधिक प्रचार होजानेसे दार्शनिकशिक्षाप्राप्तिमें बहुत ही विघ्न होने लगा है। प्रथमावस्थासे विद्यार्थियोंको आध्यात्मिकरहस्यपूर्ण

आर्षभाषा न पढ़ाकर नवीन काव्योंके पढ़ानेसे उनकी दार्शनिक बुद्धिको भी हानि होने लगी है। इन सब बातों-का विचार करके और ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंसे संग्रह करके साहित्यशिक्षा, धर्म्मशिक्षा, आचारशिक्षा, दर्शनशिक्षा, साधनशिक्षा, विज्ञानशिक्षा, पदार्थविद्याशिक्षा, अर्थनीतिशिक्षा, आयुर्वेद शिल्प कला आदिकी शिक्षाके उपयोगी संग्रहग्रन्थोंका प्रणयन करना उचित होगा। वे सब ग्रन्थ प्रकाशित करते समय यह विचार भी अवश्य रखना उचित है कि हमारे जिन जिन शास्त्रोंके विशेष विशेष अंगोंके विषयमें इस समय पश्चिमी विद्वानोंने कुछ नवीन आविष्कार कर दिखाया है (यथा आयुर्वेद), उन सबोंका संग्रह संस्कृतटिप्पणीरूपसे उन उन शास्त्रीय ग्रन्थोंमें युक्त कर देना सर्व्वथा कल्याणकारी होगा। उदाहरण स्थल पर समझ सक्ते हैं कि ज्योतिषशास्त्र, रसायन शास्त्र आदिके कितने ग्रन्थ हमारे थे, इसका कुछ भी पता नहीं लगता। अस्तु, इस समय उक्त शास्त्रों-में जो कुछ नवीन आविष्कार दिखाई देते हों, उन सबों-का संग्रह हमारे शास्त्रीय ग्रन्थोंकी टिप्पणीमें देकर साथ ही साथ उनका अध्ययन कराना लाभजनक होगा।

विना अयोग्यको तिरस्कार और योग्य पुरुषको पुरस्कार दिये किसी भी नियमका पालन नहीं हो सक्ता। अतः विद्याके विस्तार और धार्मिकप्रवृत्तिके पुनरभ्युदय करानेके लिये समाजमें अयोग्य पुरुषोंका अनुशासन और योग्य विद्वानोंको पुरस्कृत करनेकी अनेक सुकौशलपूर्ण युक्तियोंका आविष्कार करना पड़ेगा। सबसे प्रथम पुरस्कार करनेकी और अधिक

ध्यान देना पड़ेगा। जिससे तीर्थोंमें, धर्म्मस्थानोंमें, विद्वान् ब्राह्मणोंका सत्कार बढ़े, जिससे समाजमें तथा सामाजिक नेताओंके द्वारा विद्वानोंकी अधिक सेवा हो सके, जिससे देशी रजवाड़ों, राजा, महाराजा, ज़मीदारों और सेठ साहूकारोंके द्वारा विद्वान् ब्राह्मणोंकी आजीविकाकी वृद्धि हो, इसका यत्न सदा करना उचित है। गृहस्थआश्रम सब आश्रमोंका मूलरूप है। अतः सदाचारी गृहस्थगण जिससे समाजमें अधिक रूपसे सम्मानित हो सकें, इसका उपाय करना कर्त्तव्य है। गृहस्थोंके पुरोहित आदि पद जिससे योग्य व्यक्तियोंको ही दिये जायँ, ऐसा लक्ष्य रखना होगा। ब्रह्मचर्य्य आश्रमका पुनः प्रवर्त्तन कराते समय यही लक्ष्य रक्खा जाय कि विद्यार्थीगण सदाचारी, स्वदेश-हितैषी और निःस्वार्थव्रतधारी, कर्त्तव्यपरायण और सद्‌गृहस्थके उपयोगी बन सकें। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णोंकी क्रमोन्नति होनेसे ही आर्य्यजातिका पुनरभ्युदय होना सम्भव है, परन्तु इस समय प्रधानतः ब्राह्मणधर्म्मकी उन्नति और वैश्यधर्म्म की उन्नतिसे ही आर्य्यजातिके पुनरभ्युदयका प्रारम्भ हो सकेगा। अतः ब्राह्मणधर्म्मोन्नतिकारी शिक्षाके विस्तारके साथ ही साथ शिल्प, वाणिज्य और कृषिकी उन्नतिके उपयोगी शिक्षाका भी विस्तार होना उचित है।

इसमें तो सन्देह नहीं कि जब तक सन्यास आश्रमकी पुनः प्रतिष्ठा नहीं होगी, जब तक सन्यासिगण निष्कामव्रतको पराकाष्ठाको पहुंचते हुए सदा लोक हितके कार्य्योंमें रत न रहेंगे, तब तक आर्य्यजातिकी उन्नति

असम्भव है। परन्तु इसी लक्ष्यके साधनार्थ सन्यास और गृहस्थाश्रमकी मध्यावस्थामें सुकौशलपूर्ण शिक्षाकी आवश्यकता है। इस समय वानप्रस्थआश्रमधर्म्मका पूर्णरीतिसे निर्वाह होना सर्व्वथा असम्भव है। इस कारण यह युक्ति पुरुषार्थानुकूल समझी जा सक्ती है कि गृहस्थ आश्रममें एक निवृत्तिमार्गकी श्रेणी बनाई जाय और उसी प्रकारसे सन्यासकी परमहंसदशाको प्राप्त होनेसे पूर्व हंसदशा, बहूदकदशा और कुटीचरदशामें ऐसे साधनके क्रम शास्त्रानुकूल रक्खे जायँ कि जिनसे सन्यासिगणका पतन न होकर वे क्रमोन्नति कर सकें और साथ ही साथ जाति और देशकी सेवामें सफलकाम हो सकें। गृहस्थगणमें जो व्यक्ति निवृत्तिमार्गगामी होना चाहे उसको तथा उसकी सहधर्म्मिणीको प्रतिज्ञाबद्ध कराकर ऐसे संस्कारोंके अधीन चलाया जाय कि जिससे वे अपनी विलासबुद्धिका एक बार ही त्याग करके, अपने अभावोंका संकोच करते हुए, निवृत्तिमार्गसे कर्म्मयोगकी पराकाष्ठाको प्राप्त कर सकें। उसी प्रकारसे सन्यासाश्रमकी प्रथमावस्थामें शिखासूत्रकी रक्षा करवाते हुए, उनको इस प्रकारका साधन करवाया जाय कि जिससे उनकी क्रमोन्नति अवश्य सम्भावी हो। कुलकामिनीगणमें भी इस प्रकारसे निवृत्तिमार्गकी शिक्षाका पुनः प्रचार हो जाने पर वे पतिके संग रहते समय सहधर्म्मिणीरूपसे संसारकल्याणव्रतमें व्रती रह सकेंगी, और पतिके वियोग होनेसे अपने पतिव्रत-तप की रक्षा करते हुए समाज और जातिकी सेवामें कृतकार्य्य हो सकेंगी।

निष्काम कर्म्मयोगकी सहायतासे आर्य्य स्त्री और पुरुषगण चारों आश्रमोंकी पुनःप्रतिष्ठाके हेतु बन जायंगे।

केवल सुपथ्यके सेवनसे ही घोर रोग पर्य्यन्तकी शान्ति हो सक्ती है; विना औषधिके दिये सुपथ्यसे ही रोग की शान्ति होना सम्भव है। यह तो निश्चय ही है कि उत्तम औषधि होने पर भी यदि सुपथ्य न दिया जाय तो रोग का नाश नहीं हुआ करता है। अस्तु, इस समय आर्य्यजातिको सुपथ्य-सेवन करानेका विशेष उद्योग होना चाहिये। इससे उत्तम विज्ञानपूर्ण तथा सुकौशलयुक्त स्त्रीशिक्षा और पुरुषशिक्षा द्वारा, वर्त्तमान सामाजिक घोर रोगकी अपने आप ही शान्ति हो सकेगी।

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

षष्ठ अध्याय ।

बीजरक्षा ।

धर्म्मनिर्णयकारी शास्त्रोंने सनातनधर्म्मके स्वरूपवर्णनार्थ कहा है कि जिससे अभ्युदय अर्थात् इहलौकिक और पारलौकिक सुखोन्नति और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति हो, वही धर्म्म है। धर्म्मके ऐसे लक्षणोंके विषयमें स्वयं वेद ही प्रमाण है *। जिस प्रकार त्रिगुणात्मक सृष्टि, स्थिति और लयरूपी क्रियाने ही संसारको धारण कर रक्खा है और वृहत् ग्रहसमूहोंसे लेकर एक अणु पर्य्यन्त यावन्मात्र पदार्थ ही इस त्रिगुणात्मक नियमके अधीन हैं, उसी प्रकार जीवगण भी इस नियमके अधीन पाये जाते हैं। परन्तु भेद इतना ही है कि जड़ पदार्थोंका नाश तमोगुणसे और चेतनमय जीवोंका लय सत्त्वगुणकी सहायतासे हुआ करता है। जड़ पदार्थसमूह रजोगुणकी सहायतासे क्रमशः परिणामी होकर पूर्ण तमोगुणको धारण करते हुए नाशको प्राप्त हुआ करते हैं; परन्तु चेतनराज्यके अधिकारी जीवगण रजो-

---

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्म्मः,

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।

यह वैशेषिक दर्शनका धर्मलक्षण है। सनातनधर्मके विस्तारित लक्षणका प्रमाण प्रथम अध्यायकी टिप्पणीमें द्रष्टव्य है।

गुणकी सहायतासे क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि करते हुए, पूर्ण सत्त्वगुणके परिणामको प्राप्त होकर, मुक्त हो जाया करते हैं। अपनेमें सत्त्वगुणकी वृद्धि करना अर्थात् क्रमशः पूर्ण चेतनमय सात्त्विक भूमिकी ओर अग्रसर होना ही जीवगणके अर्थ धर्म्म है। इसी अभ्रान्त सृष्टिनियमके अनुसार, सृष्टिप्रवाहमें बहते हुए जीवगण, क्रमशः आवागमनको प्राप्त करते हुए, उन्नत होकर शेषमें ज्ञान-पूर्ण मनुष्ययोनिको प्राप्त हुआ करते हैं; एवं तत्पश्चात् क्रमशः सत्त्वगुणकी उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा जन्मान्तरमें पूर्ण ज्ञानी होकर मुक्ति-पदको प्राप्त कर लेते हैं।

धर्म्मभूमिमें अग्रसर होने वाले मनुष्यगण दो भागमें विभक्त किये जा सक्ते हैं; एक तो रजोमिश्रित सात्त्विक और दूसरे पूर्ण सात्त्विक अधिकारी। रजोमिश्रित सात्त्विक अधिकारियोंमें विषयवासना रहनेके कारण, वे क्रमशः अग्रसर होकर इहलौकिक सुख, शान्ति, ऐश्वर्य्य एवं स्वाधीनता और देहान्तमें उन्नत स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति किया करते हैं; परन्तु पूर्ण सात्त्विक अधिकारियोंमें, विषयवासनाका नाम भी न रहनेके कारण, वे सत्त्वगुणकी पूर्णताके परिणामको प्राप्त होकर मुक्त हो जाया करते हैं। इन उपरिकथित दोनों अधिकारोंमेंसे, दोनोंमें ही लयकी ओर क्रमोन्नतिकी गति बनी रहनेके कारण, धर्म्मभाव बना रहता है; इस कारण अवस्थाभेदसे दोनों अधिकारियोंको ही धार्म्मिक कह सक्ते हैं। विशेषतः सनातनधर्म्मके मूलभित्तिरूप वेदसे इस प्रकारके धर्म्मके दोनों विभागोंकी सिद्धि स्वतः

ही हो सक्ती है। अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरकी आज्ञारूप वेदसमूह, जब पूर्णरूपसे अभ्युदय और मोक्ष इन दोनों लक्ष्योंका साधन करनेके अर्थ प्रकरणभेदसे आज्ञा दिया करते हैं; वेदोंमें अवस्थाभेद और अधिकारभेदसे जब दोनों लक्ष्योंका वर्णन देखनेमें आता है, तो मानना ही पड़ेगा कि वेद द्वारा अपने इस धर्म्मसिद्धान्तकी सिद्धि हो रही है। वेदोंमें स्वर्गप्रद कर्म्मकाण्ड और मुक्तिप्रद ज्ञान-काण्ड दोनोंका ही विस्तृत विवरण देखनेमें आता है। यदिच वेदोंमें ज्ञान, उपासना और कर्म्म ये तीनों काण्ड ही स्वतन्त्ररूपसे हैं, परन्तु भगवद्भक्तिरूप उपासनाकाण्डको पूर्व्वोक्त दोनों काण्डोंका ही सहायक करके मानना पड़ेगा, क्योंकि विना भगवद्भक्तिके कर्म्मकाण्ड अथवा ज्ञानकाण्ड दोनोंकी सिद्धि ही नहीं हो सक्ती। सूक्ष्म विचार द्वारा जब विचार किया जाता है तब यद्यपि वेदोंका लक्ष्य मोक्षसाधन पर ही पाया जाता है, अर्थात् मोक्षके साधनार्थ ही यथार्थरूपसे वेद आज्ञा देते हैं; परन्तु स्वर्ग आदि आभ्युदयिक फलप्रद सकाम कर्म्मोंका विस्तृत वर्णन भी श्रुतियोंमें दृष्टिगोचर हुआ करता है।

वेद जो कुछ उपदेश करेंगे सो सत्य पदार्थका ही करेंगे, इस कारण यह शङ्का हो सक्ती है कि वेदोंका लक्ष्य एकमात्र सत्यरूप कैवल्य पदकी ओर क्यों न रहा? स्वर्ग और मोक्ष यह द्विविध लक्ष्य होनेसे लक्ष्यभ्रष्टताका दोष क्यों न माना जाय? इत्यादि शङ्काओंके उत्तरमें कह सक्ते हैं कि यदिच मुक्ति रूप कैवल्य पद ही वेदोंका

लक्ष्य है, और यदिच मुक्तिप्राप्तिके कारणरूप आत्मज्ञानकी उन्नति करना ही जीवगणका परम धर्म्म समझा जा सक्ता है, तथापि सभी मनुष्यगण कुछ मुक्तिके अधिकारी नहीं हो सक्ते। क्योंकि अनादि वासनाओंका नाश एकाएक सब अधिकारिगणके अन्तःकरणमें नहीं हो सक्ता वरन् वासनायुक्त अधिकारियोंकी ही संख्या इस जगत्में अधिक है, इस कारण यदि जीवगणमेंसे, असत्वासनाओंका नाश करवाके, सत्वासनाओंकी वृद्धि द्वारा, उनको सत्त्वगुणके राज्यमें अग्रसर कर दिया जाय, तो क्या वे उस पूर्व्वोक्त परमधर्म्मरूपी मुक्ति पदके अनुगामी नहीं समझे जा सकेंगे? सत्वासनायुक्त होकर यदि साधक गण सात्त्विक सकाम कर्म्मसमूहका साधन करेंगे तो वे मध्यम अधिकारिगण पुनः अधोगतिको नहीं प्राप्त हो सकेंगे एवं इस प्रकारसे सत्वासनायुक्त होकर जन्मान्तरमें क्रमशः स्वर्गादि उन्नत लोकोंको प्राप्त करके, ज्ञानकी उत्तरोत्तर उन्नत कक्षाओंको प्राप्त करते हुए, शेषमें ज्ञानकी पूर्णताको प्राप्त होकर, मुक्त पदके अधिकारी हो सकेंगे। सात्त्विक स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिमें ज्ञानाधिकारकी वृद्धि होने की सम्भावना है; इस कारण स्वर्गप्रद सकामकर्म्माधिकार भी धर्म्मशब्दवाच्य है। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर स्थित रह कर सनातनधर्म्मकी भित्तिरूप वेदोंने अभ्युदय और मोक्ष दोनोंके अधिकारके कर्म्मोंको धर्म्म नामसे ही अभिहित किया है। इसी कारण सनातनधर्म्म परमोदार और सर्वजीवहितकारी है।

जिस प्रकार सर्व्वव्यापक सच्चिदानन्दमय ब्रह्म सर्व्वकालमें और सर्व्वदेशमें विद्यमान हैं, उसी प्रकारसे पूर्णविज्ञानयुक्त नित्यसिद्ध सनातनधर्म्मकी सत्ता सब धर्म्मोंमें विद्यमान है; पृथ्वी भरके अन्यान्य सब धर्म्मसम्प्रदाय सनातनधर्म्मके नाना अङ्गोंमेंसे किसी न किसी अङ्गकी ज्योतिको ग्रहण करते हुए धर्म्मालोक प्राप्त किया करते हैं। सनातन धर्म्मके प्रधानतः तीन अङ्ग हैं; यथा—यज्ञ, तप और दान *। यज्ञके प्रधानतः तीन अङ्गोंके नाम कर्म्मयज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञान-यज्ञ हैं। कर्म्मयज्ञके नित्य, नैमित्तिक, काम्य और अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रूपसे छः भेद हैं। उपासनाके सगुण निर्गुण बहिर् अन्तर् रूपसे कई प्रकार हैं। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग भेदसे बहुरूप हैं। और स्तुति, जप और ध्यान आदि साधन-भेदसे अनेक प्रकार हैं। उपासनायज्ञाङ्गोंके प्रधान भेद करनेसे कहा जा सक्ता है कि उसके पूर्व्वोक्त चार योगाङ्गोंके अनुसार चार भेद, और ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्चोपासना, अवतार-उपासना, ऋषिदेवतापितृउपासना और भूत प्रेतादि निम्नश्रेणीकी उपासना, इसप्रकारसे विभाग करनेसे उपासनाके प्रधानतः नव भेद किये जा सक्ते हैं। ज्ञान यज्ञके श्रवण, मनन निदिध्यासन और परोक्ष, अपरोक्ष भेदसे अनेक रूप हैं। तपसाधनके शारीरिक, वाचनिक, मानसिक भेदसे कई भेद हैं। दानधर्म्मके

* यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।

इत्यादि गीतोपनिषद्।

अभयदान, विद्यादान और अर्थदान रूपसे अनेक अङ्ग हैं। और पुनः इन सब धर्म्मोंके नाना अङ्गोंके सात्त्विक, राजसिक, और तामसिक भेदसे तीन तीन रूप हैं। फलतः सनातनधर्म्म बहु अङ्ग एवं उपाङ्गोंमें विभक्त है।

सनातन धर्म्मके इन अङ्गोंमेंसे किसी एकको भी पूर्णरूपसे सात्त्विक रीतिसे साधन करनेसे मुक्ति पद तक पहुंचना होता है। अग्निका एक स्फुलिङ्ग भी पूर्ण रीतिसे दाहकार्य्य करनेमें समर्थ है। इसी कारण अहिंसा और ज्ञान योग आदिके ही अवलम्बनसे बौद्धधर्म्म जगत्में मान्य हो गया है। वर्त्तमान युरोप और अमेरिका केवल सत्यप्रियता, स्वार्थत्याग, गुणपूजा, ज्ञानार्जनस्पृहा और नियमपालन आदि थोड़ी ही धर्म्मवृत्तियोंके साधनसे आज दिन जगत्में प्रतिष्ठित हो रहा है। जापानमें इन सब गुणोंके अतिरिक्त वृद्धसेवा, पितृपूजा, राजभक्ति, धैर्य्य, ब्रह्मचर्य्य और क्षात्रधर्म्म आदि कतिपय धर्म्मवृत्तियों-की और भी अधिक उन्नति हो जानेसे, वह क्षुद्र देश युरोप और अमेरिकाके दाम्भिक अधिवासियोंके द्वारा भी सम्मानित हो रहा है। जिन जिन वृत्तियोंका नाम लिया गया, सनातन धर्म्मके अङ्गोंके साथ मिलाने पर, यही प्रतीत होगा कि वे उक्त अङ्गोंके उपाङ्ग ही हैं। धर्म्मके अङ्गसमूहोंके साथ धर्म्मके उपाङ्गसमूहका सम्बन्ध मिलाने पर इस प्रकार समझा जायगा। यथा—सत्यप्रियता मानसिक तपका उपाङ्ग और स्वार्थत्याग अवस्थाभेदसे तप व दानका उपाङ्ग हुआ करता है। पुनः वही स्वार्थत्याग यदि स्वदेश और स्वजातिसे समष्टिसम्बन्धयुक्त हो तो वह

महायज्ञके उपाङ्गमें समझा जायगा। इस प्रकारसे पितृ-पूजा उपासनायज्ञका उपाङ्ग और क्षात्रधर्म्म कर्म्मयज्ञका उपाङ्ग है, इस रूपसे एक धर्म्माङ्गके वहु उपाङ्ग होसक्ते हैं। पुनः एक धर्मवृत्ति अवस्थाभेदसे विभिन्न धर्म्माङ्गोंका उपाङ्ग होसक्ती है; यथा—स्वार्थत्याग मानसिक वृत्तिसे सम्बन्ध रखने पर तपका उपाङ्ग होगा और वही जब दानादिक द्वारा प्रकाशित होगा तो वह दान धर्म्मका उपाङ्ग होगा। सनातनधर्म्मके अङ्गों और उपाङ्गोंके विस्तार पर जब विज्ञानवित् पुरुष गण ध्यान देते हैं, तो उनको सप्रमाणित होता है कि सनातनधर्म्मके किसी न किसी अङ्गोपाङ्गकी सहायतासे, पृथ्वी भरके सब धर्म्मसम्प्रदायोंको धर्म्मसाधनोंकी सहायता प्राप्त हुई है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, सत्य, अक्रोध आदि धर्म्मवृत्तियां सब जाति सब धर्म्म और सब समाजके मनुष्योंको समानरूपसे धर्म्माधिकार प्रदान किया करती हैं। विशेषतः सनातनधर्म्मके पितृभाव पर तो किसी चिन्ताशील पुरुषको कुछ सन्देह ही नहीं हो सक्ता।

इतिहासज्ञ पुरुषोंके निकट सनातनधर्म्म ही परम्परा-सम्बन्धसे अन्य सब धर्म्ममार्गोंका आदि गुरु है। और सनातनधर्म्म ही बहुपुत्रवान् पिताकी न्याईं पृथिवीके वैदिक अथवा अवैदिक सब धर्म्मसम्प्रदायोंका प्रतिपालक है। वैदिकाचार, स्मार्ताचार, पौराणिकाचार और तान्त्रिकाचारमें सनातन धर्म्मका पूर्ण विज्ञान विद्यमान है; वेद और वेदसम्मत सब शास्त्र सनातनधर्म्मके सब अङ्गोंसे

पूर्ण हैं इसमें सन्देह ही नहीं। वेद और वेदसम्मत सब शास्त्रोंमें यद्यपि अधिकारभेदसे मतपार्थक्य पाया जाता है, परन्तु तत्त्वदर्शी पुरुषोंके विचारमें वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंका सिद्धान्तपार्थक्य कुछ भी नहीं पाया जाता। अपिच यह मानना ही पड़ेगा, कि पूर्व्वकथित धर्म्मलक्षणका पूर्ण स्वरूप, वेदसम्मत सब शास्त्रोंमें पूर्णरूपसे प्रकाशित है। तदतिरिक्त न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्म्म-मीमांसा, दैव मीमांसा और ब्रह्ममीमांसा, ये सातों वैदिक दार्शनिक मत, अथवा उपासक सम्प्रदायोंके शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत आदि जो सिद्धान्त हैं उनमें कुछ विचारतारतम्य होने पर भी अभ्युदय और मोक्षरूपी लक्ष्योंके निर्णयके अर्थ सब ही एकमत हैं। मोक्षके स्वरूपके विचार करनेमें इन सबके सिद्धान्तोंमें मतभेद है, इसमें सन्देह नहीं; और साथ ही साथ यह तो सर्व्वमान्य ही है कि अद्वैतसिद्धान्तयुक्त वेदान्तविज्ञान ही मुक्तिके निर्णय करनेमें सिद्धान्त मत है; परन्तु इन सब दार्शनिक मतभेदोंका कारण ज्ञानभूमिका तारतम्य अथवा अधिकारभेद मान लेने पर सब ही सनातनधर्म्मप्रतिपादक हैं, ऐसा ही सिद्धान्त करना होगा।

इन सम्प्रदायोंके अतिरिक्त भारतवर्षमें आज दिन नानकपन्थ, कबीरपन्थ, दादूपन्थ, गरीबदासीपन्थ, निर्मलपन्थ, स्वामी नारायणपन्थ, गोरखपन्थ, रामसनेहीपन्थ, रामानन्दीपन्थ इत्यादि अनेक धर्म्मपन्थ प्रचलित हैं। जिन सब मतोंमें वर्णाश्रमधर्म्मकी सन्मा-

नरक्षा की गई है और जिनमें अभ्युदय और निःश्रेयस ये दोनों लक्ष्य सुरक्षित हुए हैं उनको सम्प्रदाय कहते हैं। अन्यथा होने पर उनको पन्थ कहेंगे। यद्यपि इन पन्थोंमें निम्न अधिकारके भी पन्थ बहुत हैं, परन्तु इनमेंसे कोई पन्थ इतने उन्नत हैं कि जो पूर्व्वकथित सम्प्रदायोंके निकटवर्ती अधिकारको प्राप्त हो सक्ते हैं। उदाहरणस्थल पर समझ सक्ते हैं कि महात्मा गुरु नानकजीके स्थापित नानकपन्थने बहुत कुछ उन्नति की है; सिक्खोंका शौर्य और देशानुराग और उदासी साधुओंका त्याग और ज्ञाननिष्ठा अभी तक इस पन्थके महत्त्व का कारण हो रही है। पूर्व्वकथित सम्प्रदायों और इन पन्थोंके साथ पार्थक्य इतना ही है कि उक्त सम्प्रदायोंका आधार वेद और वेदसम्मत शास्त्र हैं, परन्तु इन पन्थोंके आचार्य्योंने आर्षशास्त्रानुशासनके अतिरिक्त कुछ नवीनता भी कर ली है। इन सब पन्थोंमें एक विलक्षणता यह है कि व्यावहारिकदशामें इनके अबतक वर्णाश्रमधर्म्मकी मर्य्यादाके सन्मुख अवनतमस्तक होनेपरभी वास्तवमें चार वर्ण और चार आश्रमके स्थान पर इन्होंने केवल दो आश्रम और दो वर्ण* ही नियत रक्खे हैं। उनके मतके अनुसार यद्दिच ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिका कुछ भी विचार नहीं है परन्तु वे इतना तो मानते हैं कि जो उनके सम्प्रदायमें नहीं हैं वे शूद्रवत् हैं और जो उनके पन्थकी दीक्षाको ग्रहण

* तन्त्र और पुराणोंमें भविष्यत् निर्णय करते समय कहा है कि कलियुगमें दो वर्ण और दो आश्रम जीवित रहेंगे।

कर लेता है वही उनकी दृष्टिमें उन्नत कक्षाको प्राप्त होकर ब्राह्मणवत् प्रतीत होता है। इसी रीति पर यदिच उनके पन्थमें चतुराश्रमकी कोई शैली नहीं पाई जाती, किन्तु वास्तवमें उनके दीक्षाक्रमके द्वारा उनमें केवल गृहस्थ और संन्यास इन दोनों आश्रमोंका विचार पाया जाता है; उनके मतके अनुसार दीक्षित होकर जो स्त्री-पुत्रादि से युक्त रहते हैं वेही गृहस्थ, और जो वैराग्य धारण करके ब्रह्मचर्य्यको ग्रहण करते हैं वेही वैरागी अर्थात् संन्यासीवत् समझे जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि इसकालमें चतुर्थाश्रम नामसे जितना प्रपञ्च हो रहा है सो आश्चर्य्यजनक है; प्राचीनकालमें चतुर्थाश्रममें बहुत अल्पसंख्यक तत्त्वदर्शी ब्राह्मण ही पहुंचा करते थे; परन्तु अब नीच से नीच जाति पर्य्यन्त इस आश्रमके वेष और नामको धारण करके वर्ण और आश्रमधर्म्मका नाश कर रहे हैं*। इस प्रकारके पन्थाई अनाचारोंसे सनातनधर्म्मको बहुत कुछ हानि पहुंची है; किन्तु सनातनधर्म्मविज्ञानके अनुसार धर्म्माङ्गोंको यथासम्भव वे मानते हुए स्वर्ग और मुक्ति दोनोंका अनुगमन कर सक्ते हैं। और इन अन्तिम लक्ष्योंके विषयमें ये सम्प्रदाय और

* शास्त्रोंमें केवल ब्राह्मणके लिये सन्न्यासाश्रम विहित है। परन्तु अब कलिप्रभावसे अन्त्यज पर्यन्त संन्यासी बन रहे हैं। साधुओंकी संख्या इस समय गवर्न्मेंट "सेन्सस" अर्थात् मरदुमशुमारीकी रिपोर्टके अनुसार ५२००००० बावन लाख है। इस संख्यामें सब सम्प्रदायके साधु समझना चाहिये। यह कलिकालका घोर परिणाम है।

पन्थसमूह सब ही वेदानुगामी ही कहे जा सक्ते हैं। इन पन्थसमूहोंमें कोई कोई पन्थ ऐसे उन्नत हैं कि जिनका अन्तिम लक्ष्य वेदान्तविज्ञान पर ही रक्खा गया है। उन पन्थसमूहोंके द्वारा इस जातिकी वर्त्तमान अधःपतित दशामें बहुत कुछ सहायता होती है।

इस समय भारत-भूमिमें प्रधानतः दो और मत ऐसे प्रचलित हैं कि जिनके आचार सनातनधर्म्मविरुद्ध होने पर भी वे वेदानुगामी ही कहे जाते हैं। ब्रह्म-समाज और आर्य्य-समाज, ये दोनों मत धर्म्मपुरुषार्थ-वृद्धिके लिये नियमित कार्य्य करते दिखाई देते हैं। आर्य्यसमाजका प्रधान लक्ष्य तो वेदोंके विभागों पर ही माना गया है; केवल जन्मका सम्बन्ध वर्णधर्म्मके साथ नहीं स्वीकार करना, नियोग, विधवाविवाहप्रचार, सगुणउपासनाका त्याग, पितृपूजारूपी श्राद्धोंका खण्डन इत्यादि निन्दनीय कार्य्योंके प्रचार करनेसे सनातनधर्म्मावलम्बियोंके साथ उनका सम्बन्ध घट गया है। ब्रह्म-समाजके साथ आर्य्य-समाजका प्रायः एक ही सम्बन्ध है; इन दोनोंके आचारोंमें कुछ अधिक भेद नहीं है; केवल ब्रह्म-समाजमें अधिकता इतनी ही है कि वे वेदोंका प्रामाण्य भी स्वीकार नहीं करते। परन्तु सनातनधर्म्मके मुक्तिविज्ञानके साथ दोनोंका विरोध है; दोनों ही स्वर्गसुख की न्याईं अधिककाल स्थायी अलौकिकसुखभोगको मुक्ति समझा करते हैं। तथापि साधारणतः वेदानुगमन, स्थूलरीतिसे वर्णाश्रम मर्य्यादाका पालन, स्वर्गके ही रूपान्तरमें मुक्तिपद

और स्वर्गपदकी पृथक्ता स्वीकार करना इत्यादि कारणोंसे ये किञ्चित् वेदानुगामी ही समझे जाते हैं। दूरदर्शी पुरुषोंका यही विचार है कि निजकुल-द्रोही होने पर भी कालान्तरमें सनातनधर्म्मके साथ विरोधकी न्यूनता करके उसके एक पन्थ ही बन जायंगे।

पृथिवी भरके अन्यान्य बड़े बड़े धर्म्ममतोंमेंसे नैकट्यसम्बन्धके विचारसे बौद्धधर्म्म, जैनधर्म्म और अग्निपूजक पारसी-धर्म्मका नाम पहले लेना उचित है। इनमेंसे प्रथम दो मतोंके सब धर्म्माचार्य्य आर्य्य-सन्तान भारतवासी ही हुए हैं और भारतवर्षसे ही उन मतोंका विस्तार हुआ है। एवं तीसरे धर्म्ममतके आचार्य्य गण भी साक्षातसम्बन्ध से सनातनधर्म्मकी सहायता लेते रहे हैं और उनके प्रधानाचार्य्य भारतवासी थे यह प्राचीन ग्रन्थोंसे प्रमाणित है।

वैज्ञानिकभावोंकी उन्नतिके विचारसे बौद्धधर्म्मको उत्तम कह सक्ते हैं। बौद्ध-धर्म्ममें वर्णाश्रममर्य्यादा न रहने पर भी उसके अधिकारियोंमें प्रकारान्तरसे समय समय पर ब्रह्मतेज और क्षात्रतेजकी उत्पत्ति होना इतिहाससिद्ध है। बौद्धधर्म्ममें वेदोक्तदर्शनोंसे इस प्रकारसे सादृश्य रक्खा गया है कि बौद्ध-धर्म्मका प्रधान ज्ञानकाण्ड, वैदिक ज्ञानकाण्डसे प्रायः मिलता हुआ ही अग्रसर होता है। बौद्धधर्म्म और जैनधर्म्म का अन्तिम मुक्ति-लक्ष्य, कर्म्मविज्ञान, जन्मान्तर-वाद, स्वर्ग और मोक्षकी पृथक्ता आदि कई एक

प्रधान प्रधान सिद्धान्त सनातनधर्म्मके अनुयायी ही हैं । केवल मुक्तिपक्षमें सच्चिदानन्दभावका अभाव, ईश्वरविज्ञान पर अविश्वास, वर्णाश्रममर्य्यादाका त्याग और सदाचारका अपलाप आदि ऐसे विषय हैं कि जिनसे वे धर्म्मसमूह अवैदिक मत कहाते हैं। परम आस्तिक एवं भगवत्प्रेमासक्त अनादि सनातनधर्म्मका यद्यपि इन दोनों धर्म्ममतोंसे बहुतही निकटसम्बन्ध है परन्तु उनमें भगवद्भक्तिका अभाव देखकर पितारूपी सनातनधर्म्म, इन दोनों धर्म्ममतोंको, उद्धत एवं कुलाचारत्यागी पुत्रगणकी न्याईं ताड़ना करता आया है । उनमें जितने दोष हैं वे अधिदैवसम्बन्धसे दूर हो सक्ते थे, इसी कारण सनातनधर्म्मरूपी पिताकी ताड़ना है; नहीं तो सनातनधर्म्म अन्य धर्म्ममतोंके साथ विरुद्धाचरण करना जानता ही नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से पृथिवी भरके सब वैदिक और अवैदिक धर्म्ममतसमूह ही समदर्शी सनातनधर्म्मके निकट पुष्टि और तुष्टिके योग्य हैं; केवल आचारके तारतम्यसे ही धर्म्ममतों को वैदिक और अवैदिक संज्ञामें विभक्त किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि सनातनधर्म्मसे साक्षात्सम्बन्ध रखनेवाले सम्प्रदाय और पन्थोंमें भी लघु से लघु विचार प्रचलित हैं और दूसरी ओर अवैदिक धर्म्ममतोंमेंसे किसी किसीमें अति उन्नत विचार हैं, परन्तु सदाचारपक्षपाती पूर्णज्ञानयुक्त सनातनधर्म्म उनको सदाचाररहित देख कर अगत्या अवैदिक ही कहता है ।

सनातनधर्म्ममें किस प्रकार की निरपेक्ष और सार्व्वभौम दृष्टि है सो विचारवान् पुरुषमात्र ही साधारण विचार द्वारा समझ सक्ते हैं कि वेदविरुद्धमार्ग होने पर भी उन्होंने बौद्ध-धर्म्म और जैन धर्म्मके प्रवर्त्तक श्रीभगवान् बुद्धदेव, श्रीभगवान् ऋषभदेवकी प्रशंसा करने में न्यूनता नहीं दिखाई है; उनसे अपने धर्म्ममार्गोंको विशेष लाभ न पहुंचने पर भी उन महापुरुषोंकी योग्यताके अनुसार उनकी यहां तक प्रतिष्ठा की है कि अपने ही ग्रन्थोंमें उनको भगवत्अवतार करके स्वीकार किया है; सर्वजीवहितकारी एवं अपौरुषेय सनातन धर्म्मकी महिमा अपार है।

यद्यपि समस्त पृथिवी भरमें भारतवर्षको ही धर्म्मभूमि करके मान सक्ते हैं क्योंकि धर्म्मकी पूर्णताका विकाश इसी भूमिसे हुआ है परन्तु यहांकी धर्म्मज्योति* को प्राप्त करके अरब आदिमें भी कई एक नूतन धर्म्ममत प्रकाशित हुए हैं जिनका विस्तार भी आज दिन जगत्में बहुत कुछ है। यथा—यहूदी-धर्म्म, ईसाई-धर्म्म और मुसलमान-धर्म्म। इन सब धर्म्ममतोंके ग्रन्थोंके पाठ करनेसे अति अल्प विचार द्वारा ही परिज्ञात हुआ करता है कि अभ्रान्तयुक्तिपूर्ण, वैज्ञानिक भित्ति पर

* इतिहासज्ञ विद्वानोंके द्वारा यह प्रमाणित हो रहा है कि धर्म्मप्रचार कार्य्यसे पूर्व महात्मा ईसामसीह और महात्मा मुहम्मद भारतवर्षमें धर्म्मज्ञान लाभ करनेके अर्थ आये थे एवं पुराकालमें फारस, मिश्र, तथा यूनानमें धर्म्मज्योति भारतवर्षसे ही गई थी। इसका प्रमाण तो वहींके इतिहासोंमें ही पाया जाता है।

स्थित और पूर्ण ज्ञानयुक्त अनादि सनातन धर्म्मके स्थूल विचारोंको छाया मात्रको ग्रहण करके ये नवीन धर्म्ममत समूह प्रचलित हुए हैं। उनके आचार्य्योंकी सनातन धर्म्मके गंभीर सिद्धान्तोंको समझनेकी योग्यता थी अथवा न थी, इसके विषयमें विचार करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं है; परन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि उनके पशुवत् देशवासीगण उस समय सनातन धर्म्मके सिद्धान्तोंको समझनेकी योग्यता नहीं रखते थे। उन धर्म्ममतोंके आचार्य्य गण भी कुछ साधारण पुरुष नहीं थे; देश, काल और पात्रके विचार द्वारा धर्म्मनिर्णय करनेकी शक्ति उनमें थी, इसमें सन्देह नहीं। यह तो आदिमें ही कह चुके हैं कि धर्म्मलक्षण वर्णन करते समय, पूज्यपाद महर्षियोंने एकमत होकर यही कहा है कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, उसको धर्म कहते हैं। यद्यपि शास्त्रोंमें, अभ्युदयका अर्थ स्वर्ग, और निःश्रेयसका अर्थ मोक्ष, कहा गया है; परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि जिससे जीवोंकी क्रमोन्नति हो उसीको अभ्युदय कहते हैं और किसी न किसी प्रकारसे जो क्रिया जीवको त्रितापसे बचा दे, उसीको निःश्रेयसशब्दार्थके अन्तर्गत कह सकेंगे। निःश्रेयसका यथार्थ स्वरूप न समझने पर भी, बालककी चन्द्रप्राप्तिकी इच्छा की न्याई अन्य सब धर्म्ममार्गोंका यथाधिकार लक्ष्य निःश्रेयस पर है, इसमें सन्देह ही नहीं; और यह तो स्वतः प्रमाणित है कि अभ्युदयका लक्ष्य सब धर्म्ममार्गोंमें यथाधिकार रहा ही करता है।

बाइबिल आदि ग्रन्थोंके पाठ करनेसे वैज्ञानिक-दृष्टिसम्पन्न पुरुषोंको यह प्रमाणितहो जायगा कि उन ग्रन्थोंका बहुत सा अंश, विशेषतः वैज्ञानिकभावसमूह या तो सनातन धर्म्मके शास्त्रीय ग्रन्थोंकी छायासे अनुवादित हुए हैं अथवा हमारे आचार्य्योंके उपदेश समूहोंका भावान्तर करके उनमें प्रकाशित किया गया है। विलक्षणता यह है कि उन वैज्ञानिक अंशोंका भावार्थ आज तक उन उन धर्म्ममतोंके आचार्य्य अथवा विद्वान् नहीं कह सक्ते, परन्तु भारतवर्षके शास्त्रज्ञ छोटे विद्वान् भी, उनके शास्त्रीय उक्त वचनोंके पाठ करनेसे ही, उनकी गम्भीरता समझ सक्ते हैं। इसका कारण यह है कि किसी न किसी प्रकारसे वे वैज्ञानिक भाव उनके ग्रन्थोंमें पहुंच तो गये हैं, परन्तु उनकी विद्यामें वैदिक अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावत्रय के वैज्ञानिक रहस्योंका प्रकाश कुछभी न रहनेसे, उनमें कोई भी उक्त शास्त्रीय वचनोंका भावार्थ समझ नहीं सक्ते। यद्यपि सनातनधर्म्मोक्त गम्भीर मुक्तिविज्ञान, अध्यात्मभावपूर्ण वर्णाश्रमाचार आदि बड़े २ विषयोंका नाम मात्र भी इन नवीन धर्म्ममतोंमें नहीं है, यद्यपि सनातन धर्म्मके अभ्रान्तसिद्धान्तयुक्त, दार्शनिक विचारोंका लेशमात्र भी इन धर्म्ममतोंमें नहीं पाया जाता है, तथापि यह तो विचारानुकूल ही है कि उन धर्म्ममतोंकी ईश्वर भक्ति, दान, तप आदि धर्म्माङ्गोंका स्थूल अवलम्बन, उनकी स्वर्ग-सुख-भोगकी सत्वासना, उनकी उपासना विधिमें स्तुति और जप साधनका अस्तित्व आदि धर्म्माङ्ग और उपाङ्ग सनातनधर्म्ममूलक हैं।

यद्यपि उनके अल्पदर्शी सिद्धान्तसमूह, बहुदर्शी सनातन धर्म्मके निकट बालकवत् ही हैं, तथापि समदर्शी पुरुषोंके विचारसे यही निश्चय होगा कि बहुपुत्रवान् स्नेहमय पिता के सदृश सनातन धर्म्म ही, ज्ञानज्योति की सहायता देकर पुत्ररूपसे उनकी रक्षा कर रहा है। सनातनधर्म्मावलम्बी साधक जब अपने हृदयको ऐसे ही सर्व्वजीवहितकारी उदार भावसे पूर्ण करके सर्व्वमंगलमय रूपको प्राप्त होगा, तभी वह कर्मयोगी कहावेगा, तभी वह पराभक्तिका अधिकारी हो सकेगा, और तभी वह वेदान्तवेद्य ब्रह्मसद्भाव(अद्वैतभाव)को प्राप्त करने में समर्थ होगा।

धर्म्मत्वरूपसे सब धर्म्मसम्प्रदाय धर्म्मपन्थ और धर्म्ममतसमूह तत्त्वज्ञानीके निकट एक ही कह कर मानने योग्य हैं। जिसमें वर्णाश्रमधर्म्मकी मर्य्यादा रक्षित हुई हो एवं सतीत्वधर्म्म और आचारकी सुरक्षा द्वारा जिसकी पवित्रता सम्पादित हुई हो उसीको वैदिक धर्म्म कहते हैं। और जिसमें उक्तभावोंका अभाव हो उसीको अवैदिक धर्म्म कहते हैं। धर्म्मके सब अङ्ग और उपाङ्ग द्वारा पूर्ण और ज्ञानकी षोड़श कलाओंके द्वारा दीप्तिमान् जो सिद्धान्त हो उसीको सनातनधर्म्म कहते हैं। जिनमें धर्म्मके अङ्गोपाङ्गोंकी असम्पूर्णता है और ज्ञानकलाकी न्यूनता है वे सब सिद्धान्त उनके निज निज अधिकारोंके तारतम्यानुसार धर्म्मपन्थ और धर्म्ममत आदि नामसे अभिहित होने योग्य हैं। सुतराम् सनातनधर्म्मानुरागी महात्माओंकी दृष्टिके अनुसार समस्त पृथिवीके सब

धर्म्मसम्प्रदाय, उपसम्प्रदाय, धर्म्मपन्थ, और धर्म्ममत-समूह समभावसे देखने योग्य हैं। सनातन धर्म्मके आचार्य पूज्यपाद महर्षियोंका यही वाक्य है कि जो धर्म्म किसी अन्य धर्मको बाधा दे वह सद्धर्म्म नहीं है किन्तु कुधर्म्म है, परन्तु जो धर्म्म सदा अविरोधी रह सके और सर्व्वजीवहितकारी हो सके, वही सद्धर्म्म वाच्य हो सकता है * एवं ज्ञानकी श्रेष्ठता वर्णन करते समय, सर्वश्रेष्ठ ज्ञानके विषयमें लक्षण वर्णन करते हुए श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है कि जिसके द्वारा विभक्तरूपी सर्वभूतोंमें अविभक्त विकारहीन एक-मात्र भाव देखने में आवे उसीको सात्त्विक ज्ञान समझना उचित है†। फलतः सार्वभौम विज्ञानयुक्त समदृष्टिको ही आर्यशास्त्रों में सर्वोत्तम ज्ञान करके माना गया है। ईश्वरकी न्याई अनादि और अनन्त रूप वैदिक धर्म्म, परम कारुणिक श्रीभगवान्के सदृश ही समदृष्टियुक्त और सर्वजीवहितकारी है। पिताके योग्य और अयोग्य, अधिक गुणवान् और अल्पगुणवान्, शिशु और युवक, ज्ञानी और अज्ञानी, भक्त और अभक्त, कर्मठ और आलसी सब प्रकारके ही पुत्र हुआ

---

* धर्म्मं यो बाधते धर्म्मो न स धर्म्मः कुधर्म्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्म्मः स धर्म्मो मुनिपुङ्गव!
इति पूज्यपादमहर्षियाज्ञवल्क्यः।

† सर्व्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं सात्त्विकं स्मृतम्॥
इति गीतोपनिषद्।

करते हैं परन्तु बहुपुत्रवान् एवं स्नेहमय पिता जिस प्रकार उनके यथायोग्य अधिकारोंके अनुसार उनके साथ बर्ताव करने पर भी, अपनी स्नेहदृष्टि द्वारा, पुत्ररूपसे सबको एक प्रकारसे ही माना करते हैं; उसी प्रकार अविरोधी, अभ्रान्त, सर्वजीवहितकारी सनातन धर्म्मकी कृपादृष्टि सब ही धर्म्मसम्प्रदायों, धर्म्मपन्थों और धर्म्ममतों पर है; इसमें सन्देह मात्र नहीं।

काल दुरत्यय है। कालके जिस विभाग में जिस प्रकारके गुणका परिणाम हुआ करता है, सो अवश्यही होगा। तथापि कालानुरूप पुरुषार्थ होने पर सत्कर्म्म-का फल भी अवश्य सम्भावी है। सत्ययुगमें सत्त्वगुणका प्राधान्य, त्रेतायुगमें रजोमिश्रित सत्त्वगुणकी अधिकता, द्वापर युगमें तमोमिश्रित रजोगुणकी विशेषता और कलियुगमें तमोगुणका प्रभाव, तत्तत् युगोंके जीवों पर पड़ा ही करता है। यद्यपि जीवक्रमोन्नतिकारी धर्म्मका धर्म्मत्वरूप प्रवाह सब कालमें ही समानरूपसे बहा करता है, परन्तु पूर्वोक्त गुणपरिणामके कारण धर्म्म-प्रवाहकी गम्भीरतामें तारतम्य हो जाया करता है। नदीमें जलप्रवाह सब स्थानों पर समानरूपसे रहने पर भी जिस प्रकार जलकी गंभीरता नदीगर्भके सब स्थानोंमें समान रूपसे न रहनेके कारण, मनुष्य उस प्रवाहके सब स्थानोंमें अवगाहन स्नानका सुख अनुभव नहीं कर सक्तें, उसी प्रकार सब युगोंमें तथा सब काल-में, सर्व्वव्यापक, सर्व्वजीवहितकारी धर्म्म समानरूपसे विद्यमान रहने पर भी, कालप्रभावके कारण जीवोंके

अन्तःकरण में उसकी गंभीरताका तारतम्य हो जाया करता है। इसी कारण शास्त्रोंमें आज्ञा है कि सत्ययुगमें धर्म्मके चारों पाद, त्रेता युगमें धर्म्मके तीन पाद, द्वापर युगमें धर्म्मके दो पाद और कलियुगमें धर्म्म का केवल एक मात्र पाद प्रकट रहा करता है। अस्तु, जिस युगमें मनुष्यों-की जैसी उत्पत्ति और उनके जैसे जैसे गुण, कर्म्म, स्वभाव होना निश्चय है; सो अवश्य ही होगा। वर्त्तमान समय में आर्य्यजातिभावका जो कुछ परिवर्त्तन दृष्टि-गोचर होता है उसके मूलमें भी कालधर्म्म विद्यमान है। फलतः तत्त्वदर्शी और कालज्ञानसम्पन्न सत्पुरुषोंकी यही सम्मति है कि दुरत्यय कालधर्म्मके कारण इस समय आर्य्यजातिकी पूर्ण रीतिसे उन्नति, वर्णाश्रम धर्म्म-की पूर्ण मर्यादाकी प्रतिष्ठा और सनातन धर्म्मके अध्यात्मविज्ञानका पूर्ण विकाश होना असम्भव है। हां, बीजरक्षारूपसे प्रबल पुरुषार्थ द्वारा कुछ उन्नति अवश्य हो सकेगी।

जिस प्रकार चार युग होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक युगमें पुनः चतुर्युगका अन्तर्भाव हुआ करता है; जिस प्रकार ज्योतिष विज्ञानके अनुसार दशा, और अन्त-र्दशा मानी जाती हैं उसी प्रकार कालधर्म्ममें भी युगोंके पूर्ण परिमाणके अन्तर्गत अन्ययुगोंका अन्तर्भाव भी माना गया है और जिस प्रकार एक ऋतुमें उत्पन्न होने वाले अन्नोंके बीजकी रक्षा अति सावधानता पूर्वक दूसरे ऋतुओंमें इस विचारसे कृषिजीवीगण किया करते हैं कि जिससे उक्त अन्नोंकी उत्पत्तिका जब

पुनः ऋतु आवे, तब उस सुरक्षित बीजसे पुनः अन्न उत्पन्न हो सके; उसी प्रकार इस घोर तमःप्रधान कलि-युगमें अन्य युगोंके अन्तर्भाव होते समय धर्म और सद्वि-द्याकी बीजरक्षा होना विज्ञानसिद्ध है। वस्तुतस्तु भवि-ष्यत् कालके लिये सब सद्भावोंकी बीजरक्षा करना ही अब श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलका लक्ष्य होना उचित है।

यद्यपि सर्व्वजीवहितकारी, अनादिसिद्ध सना-तन धर्म्मका पितृभाव इस समयके अन्य धर्म्मसम्प्रदाय, धर्म्मपन्थ, और धर्म्ममतसमूह अनुभव नहीं कर सक्ते; यद्यपि पूर्णविज्ञानयुक्त सनातन धर्म्मके सब अङ्ग और उपाङ्गोंका विकाश इस कराल कलियुगमें समानरूपसे सब स्थानोंमें होना सर्व्वथा असम्भव है; यद्यपि कई एक अपरिहार्य्य कारणोंसे सनातन धर्म्मके आचार्य्य और शिष्यवर्गोंमें ऐसे भावका उदय हुआ है कि जिससे वे अन्य धर्म्ममतोंको प्रायः द्वेषभावसे देखने लगे हैं; और यद्यपि इस समय जगत्में ऐसे अज्ञानका दूर होना सर्व्वथा सम्भव प्रतीत नहीं होता; तथापि सनातन धर्म्मका सर्व्वलोकहितकर महान् भाव और उसके यावत् अङ्ग और उपाङ्गोंका प्रकाश तथा उसकी सर्व्वजीवोपकारिताका ज्ञान, वर्त्तमान देशकाल-पात्रोपयोगी पुस्तकादि द्वारा बीजरक्षारूपसे स्थायी रखना कर्त्तव्य है।

यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि इस समय जो चातुर्वर्ण्य और चतुराश्रममें विकार उत्पन्न होकर अग-णित वर्ण और अगणित आश्रमोंकी सृष्टि होगई है,

उनका ठीक ठीक संस्कार होकर वेदोक्त चातुर्वर्ण्य और चतुराश्रमकी पुनः प्रतिष्ठा हो; यह सम्भव नहीं है कि सात्त्विक प्रेमकी उत्पत्ति होकर सब प्रकारके ब्राह्मण ऐक्यसंस्थापनपूर्वक समष्टिरूपसे ब्राह्मणधर्म्मकी पुनः प्रतिष्ठाके लिये यत्नवान् हों; यह सर्व्वथा असम्भव ही है कि वेदोक्तसर्वमान्य संन्यासाश्रमकी पूर्ण मर्य्यादा स्थापित होकर वर्णाश्रमभ्रष्टकारी कौपीनधारी साधुसमाजका संस्कार हो सके; यह असम्भव ही प्रतीत होता है कि जब बहुधा हीनवर्ण अनुशासनाभावसे प्रमादग्रस्त हो उच्चवर्ण बनना चाहते हैं, और जब सब वर्ण तथा उनकी क्षुद्र क्षुद्र शाखाएं अपनी अपनी अढ़ाई चावल की खिचड़ी अलग अलग पकाते हुए अन्यवर्णोंकी उपेक्षा करके अपना अपना महत्त्व स्थापन करनेमें यत्नवान् हैं; ऐसे समयमें वर्ण और आश्रम समूह पुनःनियमबद्ध हो सकें—तथापि बीजरक्षारूपसे सबमेंआदर्शभावकी रक्षा होना सम्भव ही है।

जब देखा जाताहै कि समानरूपसे सब महर्षिगण द्वारा सुरक्षित होने पर भी वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौररूपी सगुणउपासक सम्प्रदायोंमें तथा सगुणउपासनाके पक्षपाती, और ब्रह्मउपासनाके पक्षपाती आचार्य्योंमें, पारस्परिक विरोध करना ही वे इस समय साधनाङ्ग समझ कर विवेचित करते हैं जब लक्ष्य वस्तु एकही होने पर भी, और सब सम्प्रदाय वेदानुकूल होने पर भी, साम्प्रदायिक आचार्य्योंका पारस्परिक प्रेम न होकर उनमें धर्म्महानिकर द्वेषबुद्धिकी उत्पत्ति हो

रहो है; जब वैदिक अधिकारके मानने वाले और वेद-प्रामाण्य तथा ऋषिवाक्य शिरोधार्य्य करनेवाले वर्णाश्रमी और साम्प्रदायिक मनुष्योंमें ही अपना स्वरूप-ज्ञान नहीं है, तब कैसे आशा की जा सक्ती है कि सनातन धर्मके सार्व्वभौम और सर्व्वकल्याणप्रद रूपका पूर्ण विकाश इस समय आर्य्यसन्तानोंमें हो सके? सदाचारी वैदिक सम्प्रदाय और उपसम्प्रदायोंमें जब प्रेमका अभाव सर्वथा विद्यमान है, तो उनका प्रेम अवैदिक आचारहीन अन्य धर्म्ममतोंके साथ रहना सर्वथा असम्भव ही है। तथापि पूर्वकथित सनातनधर्म्मका महान् स्वरूप जब शिक्षित लोगोंमें प्रकाशित किया जायगा तो पवित्र भावोंकी बीजरचारूप से उनके अन्तःकरणमें सनातन धर्म्मके सर्वलोकहितकर यथार्थ स्वरूपका कुछ महत्त्वज्ञान अवश्य आजावेगा।

अन्य धर्म्मपन्थों अथवा मतोंके सदृश सनातन धर्म्म कृत्रिम नहीं है; यह स्वभावसिद्ध पूर्ण और अकृत्रिम है। अतः आज कल जो सनातनधर्म्मके नामसे रागद्वेषका विस्तार देखनेमें आता है, सनातनधर्म्मके नामके साथ जो धर्म्मविरुद्ध स्तुति, निन्दा, ईर्षा, प्रमाद, खण्डन, निग्रह, वाचालता, दम्भ, दोषदृष्टि, प्रेमराहित्य, वितण्डा और जल्प आदिकी वृत्तियां उसके आचार्य्य, उपदेशक और साधकोंमें दृष्टिगोचर होती हैं वे यथार्थमें सर्वहितकर सनातन धर्म्मकी वृत्तियां नहीं हैं, यथाधिकार उपदेश देना, कर्म्मसङ्गियोंका बुद्धिभेद नहीं करना, ज्ञान, उपासना और कर्म्मके

यथायोग्य अधिकारीको तत्तत् अधिकारके अनुसार साधनमें तत्पर करना, क्षुद्रसे क्षुद्र अधिकारका भी धर्म्म-मत हो उसको भी उसकी रीति के अनुसार आत्मोन्नति करने में बाधा नहीं देना, सदाचारका पूर्ण विचार रखने पर भी सब धर्म्मसम्प्रदाय धर्म्मपथ और धर्म्ममतोंके साथ प्रेम स्थापन करनेसे पराङ्मुख नहीं होना और अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत त्रिविध विज्ञानयुक्त धर्म्म-रहस्योंके ज्ञाता होने पर भी, धर्म्माधिकारमें अतिबालक अधिकारीको भी तुच्छ दृष्टिसे नहीं देखना, इत्यादि सनातन धर्म्मकी महत्त्वप्रतिपादक वृत्तियां हैं।

अज कलकी बहिर्दृष्टिके कारण विद्याका यथार्थ स्वरूप संसारमें लुप्तप्राय हो गया है; पदार्थसम्बन्धीय विचार और साधारण ज्ञानवृद्धिको ही लोग विद्या मानने लगे हैं। अतः विद्याके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान, बीजरूपसे प्रकाशित रखना उचित है। अविद्या-नाशकारिणी ज्ञान-जननीको विद्या कहते हैं। शिक्षाशैलीके साथ विद्याके इस लक्षणका संस्कार हृदयाङ्कित कर देनेका सदा यत्न करना उचित है। बीजको जीवित रखने पर कालान्तरमें अवश्य अंकुरोत्पत्ति होगी। आर्य्य जातिके प्राचीन पुस्तक जो लुप्त हो गये हैं उनका उद्धार करनेके अर्थ प्रबल यत्न रखना चाहिये। आयुर्व्वेद, ज्योतिष शास्त्र, धनुर्वेद, शिल्प और कलाशास्त्र, पदार्थविद्या (सायन्स) आदिके अंश जो हमारे यहांसे लुप्त हो गये हैं एवं जो अन्य जाति-योंमें मिलते हैं अतियत्नपूर्वक संग्रह करने चाहियें। जहां तक उपलब्ध हो सकें, प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोंका

संग्रह करके, उनकी सुरक्षा करना कर्तव्य है और साथ ही साथ प्रकाशित, अप्रकाशित और लुप्त ग्रन्थोंकी सूची निर्माण करके पुस्तकसुरक्षाकी यथासंभव चेष्टा करना परम कर्त्तव्य है।

पूर्ण ज्ञानयुक्त वैदिक विज्ञानकी भित्ति अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावत्रय पर स्थित है। परमपिता, अनन्तशायी, अनन्तदेवके भाव अनन्त हैं; और वे परमात्मा अनन्तलीलामय हैं; इस कारण अनन्त शक्तिशालिनी माताको भी अनन्त वैचित्र्यसे भरे हुए रूपोंको धारण करके उनकी सेवामें नियुक्त रहना पड़ता है। पिता प्रधानतः अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी भावत्रयमें निमग्न हैं; फलतः मातादेवीको भी साधारणतः सत्त्व-रज-तम-रूपी गुणत्रयके विकाश द्वारा सृष्टि, स्थिति, लय कार्य्योंको करते हुए, पितृदेवको प्रसन्न करनेके अर्थ सदैव सेवामें उपस्थित रहना पड़ता है। इसी वैज्ञानिक रहस्यके अनुसार परमात्माके ब्रह्म, ईश्वर और विराट् स्वरूपका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। वाक् और मनसे अप्रत्यक्ष, सर्व्वकारण, आदि तथा अन्तसे रहित, सृष्टिके अतीत जो सच्चिदानन्द भाव है, वही ब्रह्मशब्दसे उक्त होता है। वही अध्यात्म भाव है। जगत् जन्मादिके कारण, सृष्टि, स्थिति तथा लयके कर्त्ता, सर्व्वज्ञ, अन्तर्यामी, कृपामय, जगद्गुरु और तीन गुणोंके आधाररूपी जो भाव है, वही ईश्वरनामसे अभिहित होता है। यही भाव अधिदैव है और कार्य्यब्रह्मरूपा इस विराट् ब्रह्माण्डसे संयुक्त जो स्थूल भाव है वही

विराट् पुरुष नामसे कथित है। यही भगवान्का अधि-भूत भाव है *। वेद और शास्त्रोंमें सर्वोत्कृष्टरूपसे कथित ओंतत्सत् मन्त्रका रहस्य-सम्बन्ध, श्रीभगवान्के इन्हीं भावत्रयोंसे है; इस मन्त्रके तीन पदोंके साथ यथाक्रम इन्हीं तीनों स्वरूपका सम्बन्ध है; ऐसा तत्त्वदर्शी पुरुष गण अनुभव करते हैं †। इसी कारण उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें इस मंत्रकी इतनी महिमा गाई गई है।

---

* यत्तद् ब्रह्म मनोवाचामगोचरमितीरितम्।
तत् सर्व्वकारणं विद्धि सर्व्वाध्यात्मिकमित्यपि॥
अनाद्यंतमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे संप्रवर्तते॥
स्वेच्छा मायाख्यया यत्तज्जगज्जन्यादिकारणम्।
ईश्वराख्यं तु तत्तत्त्वमधिदैवमिति स्मृतम्॥
सर्वज्ञः सद्गुरुर्नित्योत्यन्तर्यामी कृपानिधिः।
सर्वसद्गुणसारात्मा दोषशून्यः परः पुमान्॥
यत् कार्य्यब्रह्म विश्वस्य विधानं प्राकृतात्मकम्।
विराडाख्यं स्थूलतरमधिभूतं तदुच्यते॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥
इति पूज्यपादमहर्षि वशिष्ठः।

† ओंतत्सदिति निर्द्देशोब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥

सृष्टिके आदि कारण श्रीभगवान् जब भावत्रयसे सम्बन्धयुक्त हैं, तो सृष्टिका प्रत्येक अङ्ग क्यों नहीं उन तीनों भावोंसे सम्बन्धयुक्त होगा; अस्तु, वैदिक विज्ञानके अनुसार इस ब्रह्माण्डका प्रत्येक अङ्ग और इस सृष्टिके सकल पदार्थ इन भावत्रयोंसे संयुक्त माने गये हैं। उदाहरणस्थल पर नेत्र इन्द्रियका विचार किया जाय तो यही पाया जायगा कि अध्यात्मनेत्ररूप तन्मात्रा, अधिदैवनेत्र सूर्यदेव और अधिभूतनेत्र यह स्थूल नेत्र-गोलक है *। इसी प्रकार सब पदार्थ और सब विषय सनातनधर्म्मोक्त विज्ञानके अनुसार त्रिभावात्मक माने गये हैं। वेदका महत्त्व भी इसी कारण है कि वह अपौ-रुषेय होनेके कारण उसकी प्रत्येक श्रुति भी त्रिभावात्मक है † और काण्डत्रयके अनुसार समष्टिरूपी वेद तो

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्म्मणि सदा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म्मचैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

इति श्री गीतोपनिषद्।

* ईशस्य मायागुणमप्यनेकधा, विकल्पबुद्धिश्च गुणैर्विधत्ते।
वैकारिकास्त्रिविधोऽध्यात्ममेकमथाधिदैवमधिभूतमन्यत्॥
दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रंध्रे, परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे।
आत्मायदेषामपरो य आद्यः स्वयाऽनुभूत्याऽखिलसिद्धसिद्धिः॥

इति श्रीमद्भागवते।

† यथा दुग्धं च भक्तं च शर्करा च सुमिश्रितम्।
कल्पितं देवभोगाय परमान्नं सुधोपमम्॥

त्रिभावात्मक हैं ही । साधकमें जितनी वैज्ञानिक दृष्टि बढ़ती जायगी, वह उतना ही सब अवस्था और सब वस्तुओंमें इन भावत्रयोंका अनुभव अधिक रूपसे करनेमें समर्थ होता जायगा । इस वैज्ञानिक दृष्टिकी पूर्णता, दार्शनिक शिक्षा व अन्तःकरणकी पवित्रतासे हुआ करती है; आत्म-साक्षात्कार इस दृष्टिकी चरमसीमा है । प्रत्येक शारीरिक और मानसिक कार्य्योंमें भाव-शुद्धि रखना आध्यात्मिक उन्नतिका प्रधान हेतु है; भावशुद्धि द्वारा असत्कार्य्य भी धर्म्मकार्य्यमें परिणत हो सकते हैं; भावशुद्धि द्वारा सामान्य कर्म्मसे असामान्य फलकी प्राप्ति हो सकती है; और भावशुद्धि करने और करानेमें पूर्वकथित वैज्ञानिक दृष्टिकी सर्वोपरि आवश्यकता है । सुतरां शिक्षाप्रणालीके द्वारा उक्त भावत्रयोंके संस्कार-की बीजरक्षा होना नितान्त कर्त्तव्य है ।

विश्व जननी महामायाका रूप त्रिगुणमय है; उनकी सृष्टिलीलाका कोई अंश भी गुणत्रयसे रहित नहीं है । तीन गुणोंके विषयमें शास्त्रोंमें वर्णन है * कि निर्मलता

तथा त्रैविध्यमापन्नः श्रुतिभेदः सुखात्मकः ।
नयते ब्राह्मणान्नित्यं ब्रह्मानन्दं परात्परम् ॥
इति विज्ञानभाष्ये ।

* तत्र सत्त्वं निर्म्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ! ॥
रजोरागात्मकं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्म्मसङ्गेन देहिनम् ।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नातिभारत ! ॥
इति गीतोपनिषद् ।

होनेसे प्रकाशक और अनामय (शान्त) सत्त्वगुण देही-को सुखसंगके द्वारा और ज्ञानसंगके द्वारा बद्ध करता है। रजोगुण रागात्मक तथा तृष्णा (अभिलाष) और संग (आसक्ति) से उत्पन्न होता है; वह रजोगुण देहधारी-को कर्म्मोंके अनुरागसे बन्धनयुक्त कर देता है। तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है और वह असावधानता, उद्यम-हीनता तथा चित्तकी खिन्नतासे देहियोंको बन्धनयुक्त करता है। प्रधानतः सत्त्वगुण ज्ञानाधिकता, रजोगुण इच्छा और क्रियाकी अधिकता और तमोगुण अज्ञान और प्रमादकी अधिकतासे पहचाना जा सक्ता है। सृष्टिके यावत् पदार्थोंके साथ गुणत्रयका साक्षात्सम्बन्ध रहनेके कारण इस संसारके सब पदार्थोंको तीन भागमें विभक्त किया गया है; इसी कारण वैदिक विज्ञानके अनुसार मनुष्योंमें तीन प्रकारके अधिकारी निर्णय किये हैं और इसी कारण धर्म्मके सब अङ्ग, उपाङ्ग और अधि-कार त्रिविध माने गये हैं। श्रीगीता आदि अध्यात्म शास्त्रोंमें त्रिविध-बुद्धि, त्रिविध-सुख, त्रिविध कर्त्ता, त्रिविध-कर्म्म, त्रिविध उपासक, त्रिविध-उपासना, त्रिवि-ध-श्रद्धा, त्रिविध-ज्ञान, त्रिविध त्याग, त्रिविध-यज्ञ, त्रिविध-धृति, त्रिविध-तप, त्रिविध-दान, त्रिविध आहार, त्रिविध श्रोता, त्रिविध-मननकर्त्ता, त्रिविध-निदिध्या-सक आदिका वर्णन पाया जाता है। इसी कारण वेदोंमें विज्ञानांश, गाथांश और अनुशासनांशकी पृथकता पाई जाती है और इसी कारण पुराणादिक शास्त्रोंमें समा-धि-भाषा, लौकिक-भाषा और परकीय भाषाकी विचि-

ग्रता रख कर त्रिविध-अधिकारियोंका कल्याण किया गया है *। येही पूर्वकथित भावत्रय और गुणत्रय विज्ञान वैदिक सिद्धान्तोंकी मूल भित्ति हैं। अस्तु आर्य्यसदाचार और आर्य्यशिक्षामें इसकी बीज रक्षा अवश्य कर्तव्य है।

पदार्थविद्या (Science) ने वर्त्तमान समयमें जगत्में सर्व्वप्रधान स्थान प्राप्त किया है। वाष्पीयशक्तिके आविष्कार द्वारा नानाप्रकारके स्थलयान, जलयान और नभयानकी सृष्टि ताडित् शक्तिके आविष्कारद्वारा क्रिया एवं ज्योतिसम्बन्धीय बहुप्रकार अलौकिक कार्य्यसिद्धि, असाधारण अस्त्रशस्त्रोंका आविष्कार, ज्योतिषचिकित्सा, और रसायन आदि शास्त्रोंकी अद्भुत उन्नति; इन पदार्थ विद्याकी सब उन्नतियोंको देख कर इस समय बहुत लोग विस्मयान्वित हुआ करते हैं। परन्तु इस विषयमें वर्त्त-

* समाधिभाषा प्रथमा लौकिकीति तथा परा।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता ॥
गुप्तमेतद्रहस्यं वै भाषातत्त्वं महर्षयः।
सम्यक् ज्ञात्वा प्रवर्त्तध्वं शास्त्रपाठेषु संयताः ॥
समाधिभाषा जीवानां योगवुद्धिप्रदीपिका।
नयते नितरामेतान् परमामृतमव्ययम् ॥
सुरम्या लौकिकी भाषा लोकवुद्धिप्रसाधिका।
परमानंदभोगान् सा प्रदत्ते नात्र संशयः ॥
परकीया तथा भाषा शास्त्रोक्ता पापनाशिनी।
जीवान् सा पुण्यलोकानां कुरुते ह्यधिकारिणः ॥
इति पूज्यपादमहर्षिभरद्वाजः।

मान देश, काल, पात्रका विचार करने पर विस्मयान्वित होनेका कोई कारण नहीं है। भगवच्छक्तिप्राप्त मनुष्यकी ज्ञानवृद्धिके साथ ही साथ जब दृष्टि अन्तर्मुखिनी हुई थी तब आर्य्यजातिके द्वारा अन्तर्जगत्‌का द्वार उद्घाटन हुआ था। तब आर्य्य जातिकी ज्ञानशक्ति उनकी दैवी प्रकृतिके अनुसार जिस ओर नियोजित हुई थी उसी ओर अलौकिक फलकी प्राप्ति हुई थी। अब तमःप्रधान कलि-युगमें मनुष्यकी ज्ञानोन्नतिके साथ ही साथ उनकी आसुर-प्रकृतिके अनुसार स्थूलराज्यमें अनेकानेक अलौकिक उन्नति होगी इसमें आश्चर्य्य ही क्या है। वास्तवमें पदार्थ-विद्योन्नतिकी इस समय केवल प्रथमावस्था है ऐसा मानना पड़ेगा, भविष्यत्‌में पदार्थविद्याके आचार्य्योंके द्वारा अपेक्षाकृत और भी अलौकिक एवं विस्मयकर बहुत कुछ उन्नति होगी इसमें सन्देह ही नहीं। आर्य जातिको उक्त उन्नतिसे विचलित न होकर वरं अपनी आवश्यकतानुसार उन सब नवीन आविष्कृत पदार्थ विद्याओंका संग्रह करना उचित होगा। परन्तु साथही साथ अपने अभ्रान्त विज्ञानके द्वारा स्थिरीकृत सिद्धान्त समूह जिससे लक्ष्यसे च्युत न हों वैसा करना होगा। ज्योतिष शास्त्रका त्रिभावात्मक शक्तिविज्ञान, आयु-र्वेदके त्रिगुणमय विज्ञान आदि जिससे उक्त विद्याके नूतन आविष्कारोंके द्वारा लक्ष्यसे च्युत न हों ऐसा करना होगा। अर्थात् पदार्थविद्याका सारसंग्रह करते समय नवाविष्कृत शास्त्रसमूहको अपने देश-काल-पात्रानुयायी करना पड़ेगा। परन्तु उनको क्रियासिद्धां-

रूमें परिणत करते समय वैदिक अभ्रान्त विज्ञानोंके साथ उनका यथायोग्य मेल रख कर उनको कर्मोपयोगी कर लेना पड़ेगा और सब समय यह स्थिर लक्ष्य रखना पड़ेगा कि अन्तर्दृष्टिशून्य नवीन आविष्कृत पदार्थ-विद्यासमूह आर्य्य जातिको अध्यात्मलक्ष्यच्युत न कर सकें।

कर्म्म ही सृष्टिका आदि कारण है इसी कारण-कर्म्मविज्ञानका आधिक्य वेदोंमें पाया जाता है। यद्यपि साधारण बुद्धि द्वारा यह समझमें नहीं आ सकता कि किस वैदिक कर्मका क्या तात्पर्य है, तथापि यह तो स्थिर सिद्धान्त है कि प्रत्येक वेदोक्त कर्म विज्ञानमूलक और नित्य सत्य फलप्रद हैं। यदिच संहिता और ब्राह्मण आदि वैदिकविभागोंका सहस्रांश भी इस समय उपलब्ध नहीं होता, यदिच स्मार्त आचार, पौराणिक आचार और तान्त्रिक कर्म्मकाण्डने इस भूमिमें वैदिक आचार एवं कर्म्म काण्डके स्थल पर प्रायः अधिकार कर लिया है, तथापि उक्त आचार एवं कर्म्मकाण्ड वेदमूलक ही होनेके कारण और अपौरुषेय वेदोंका अधिकार सर्वोपरि रहनेके कारण यथादेश-काल-पात्र-भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें बीजरक्षारूपसे वैदिक कर्म्मकाण्डके सब अङ्गोंके क्रिया-सिद्धांशकी रक्षा करना सर्वथा हितकारी है। वैदिक-शिक्षाका विस्तार, वैदिक कर्म्मकाण्डके क्रिया-सिद्धांशकी प्रणालीका प्रचार और सब प्रान्तोंके ब्राह्मणों-में वैदिक कर्म्मकाण्डियोंकी सन्मान-वृद्धि करनेसे फलकी सिद्धि होसकेगी।

जगदीश्वरकी नित्यशक्तियोंके विभागानुसार ऋषि देवता और पितर उनकी साक्षात् विभूति हैं। वेदोंमें प्रकारान्तरसे इनकी पूजाका वर्णन बहुधा पाया जाता है। तत्त्वदर्शी मुनियोंका यह सिद्धान्त है कि इन तीनों ईश्वरके अंशोंकी पूजा जिस जातिमें जितनी अधिक रहती है, वह जाति उतनी ही उन्नत हो जाया करती है, और इनकी पूजाका लोप होनेके साथ ही साथ जातियां नष्ट भ्रष्ट हो जाया करती हैं। अब यह शङ्का हो सक्ती है कि आज कल पृथिवीके अन्य विभागोंमें जो अन्यान्य उन्नत जातियां उपस्थित हैं उनमें क्या ऋषि, देव और पितृपूजा प्रचलित है? इसके सिद्धान्तमें चिन्ताशील पुरुष गण समझ सक्ते हैं कि यद्यपि उन जातियोंमें वैदिक विज्ञान और आचारका प्रचार नहीं है, तथापि कार्य्यतः वे जातियां अवश्य ही वैदिक सिद्धान्तानुसार बहुत से ऐसे धर्म्मकार्य्य करती हैं कि जिनके द्वारा उनकी जाति उन्नत हो रही है। धर्म्मशक्ति व्यापक है। अतएव उसके किसी अंगमात्रके पालन करनेसे भी फलोत्पत्तिमें विफलता नहीं होती। धर्म्म सत्यरूप है; अतएव रहस्य ज्ञान हो अथवा न हो उसके साधन द्वारा अवश्य पूर्ण फलकी उत्पत्ति हुआ करती है।

यद्यपि युरोप, अमेरिका और जापानके अधिवासियोंको परमात्माके अध्यात्म तत्त्वोंका बोध नहीं है, यद्यपि वे नित्य-सिद्ध महर्षियोंकी सत्ताका अनुभव नहीं कर सक्ते, परन्तु वे पूज्यपाद महर्षियोंके प्रीतिकर ऐसे अनेक कर्म्म करते हैं कि जिनके द्वारा अपने आप ही

वे ऋषिपूजाके फलके अधिकारी बन जाते हैं। उनका विद्यानुराग, नित्य ज्ञानवृद्धिकी चेष्टा, नियमित शास्त्राभ्यासकी प्रवृत्ति, विद्या और विद्वानों पर श्रद्धा इत्यादि अनेक ऐसी धर्म्मवृत्तियां उनमें जाज्वल्यमान हैं कि जिनके द्वारा वे स्वतः ही ऋषिकृपा प्राप्त कर रहे हैं। उसी प्रकारसे यदिच वे वेदोक्त अधिदैवविज्ञानसे सम्पूर्ण अनभिज्ञ हैं, यदिच नित्यसिद्ध देव-देवियोंमें उनकी कुछ भी श्रद्धा नहीं है, परन्तु स्वार्थत्याग, दान, तप, स्वदेशानुराग, स्वजातिप्रेम, शौर्य्य, वीर्य्य, धैर्य्य, पुरुषार्थ, औदार्य्य, भगवद्भक्ति आदि धर्म्मसाधनों द्वारा वे देवताओंकी प्रीति सम्पादन करनेमें स्वतः ही समर्थ हो रहे हैं। उक्त देशवासियोंकी अति प्रशंसनीय गुरुजन-सन्मान-बुद्धि, पितृमातृसेवाकी असाधारण प्रवृत्ति, * उनकी वृद्धसेवामें रुचि और विशेषतः उनमें अपने पूर्वजोंकी कीर्त्ति और सन्मानकी रक्षा करनेकी प्रबल इच्छा आदि धर्म्मवृत्तियोंसे वे विना पितृयज्ञसाधन किये भी पितरोंके आशीर्वादभाजन हुआ करते हैं। अस्तु, जिस कर्म्मभूमिके रोम रोममें पितृ-पूजा, देव-पूजा और ऋषि-पूजा का संस्कार आदि-कालसे अङ्कित है, वहां इस परम धर्म्मकी बीजरक्षा होना सर्वदा कल्याणप्रद है और

---

* जापानी जातिमें इस समय परलोकगामी पितरोंपर श्रद्धा बहुत बढ़ी हुई है। जापान देशमें जो पुत्र पितामाताकी भोजनादिसे सेवा नहीं करता उसके दण्डित करनेके लिये प्राणदण्ड तककी राजाज्ञा है। उस देशमें ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्धके सन्मान न करनेसे भी उचित राजदण्ड मिला करता है। इसी कारण जापान उन्नत हुआ है।

साथ ही साथ इस पवित्र और आदि जातिमें जो ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा, आदर्शरूप हुए हैं, जो सद्गृहस्थ अथवा नरपतियोंमें दानवीर युद्धवीर अथवा कर्म्मवीर हो गये हैं कि जिनकी जीवनी आदर्शरूप हो, ऐसे महापुरुषों की महिमा चिरस्थायी रखते हुए, सदा उनकी कीर्ति जाज्वल्यमान रखकर जातिको शिक्षा देना उचित है। बीजरक्षाकार्य्यमें सहायता देनेके अर्थ भारतवर्षके किसी प्रान्तमें एक ऐसा आदर्श प्रदेश बनाये रखना चाहिये जहां श्रुति-स्मृत्युक्त वर्णाश्रमधर्म्म, सतीत्व धर्म्म, ब्राह्मणक्षात्रानुशासन, धर्म्मशास्त्रोंकी पूर्ण मर्य्यादा और सदाचारोंके पालन करने और करानेका पूर्ण अवसर मिल सके।

सनातन धर्म्मके अनुसार सदाचारका पालन करना ही प्रथम धर्म्म माना गया है। आत्मज्ञानवृद्धि द्वारा अध्यात्म शुद्धि, भगवद्भक्तिकी वृद्धि द्वारा अधिदैव शुद्धि, और सदाचारपालन द्वारा अधिभूत शुद्धि हुआ करती है। शरीरके साथ अधिभूत सम्बन्धका प्राधान्य है, इसी कारण आचार प्रथम धर्म्म है; इसी कारण आचारकी परमावश्यकता मानी गई है। यह आचारके त्याग का ही कारण है कि जो ब्राह्मण जाति अनादि कालसे जगद्गुरु समझी जाती थी वही जाति, आज दिन प्रायी रसोइयोंकी जाति कहलाने लगी है। यह सदाचारके त्यागका ही कारण है कि जिस जातिके अनुशासनाधीन होकर जगद्विजयी क्षत्रियसम्राट्गण पृथिवीका शासन किया करते थे वही जाति आज प्रायः शूद्रसेवा और

"हन्तकारी"की रोटियोंसे उदरपूर्ति करनेको अपना अहोभाग्य समझती है। जिस जातिके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत शुद्धिके कारण केवल उसी जातिमें त्रिकालज्ञ महर्षिगणका आविर्भाव हुआ करता था, भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें भ्रमण करनेवाले पुरुष अब यह देख कर मर्म्माहत होते हैं कि आचारभ्रष्टताके कारण वही जाति कहीं एकबार ही शूद्रवत् हो गई है, कहीं प्रायः वर्णसंकर होकर नष्ट भ्रष्ट हो रही है।

स्मरण करते हुए हृदय विदीर्ण होता है कि एक समय इसी पवित्र भारत-भूमिके सब स्थान तपःस्वाध्यायनिरत तथा परोपकारव्रतधारी ब्राह्मणगणसे पूर्ण थे; परन्तु अब आचारत्यागका ही कारण है कि ग्राम, नगर, जनपद खोजते हुए चले जाने परभी, यथार्थ लक्षणयुक्त आदर्शचरित्र ब्राह्मण दर्शनमात्रको भी नहीं मिलते। यह आचारभ्रष्टताका ही कारण है कि किसी समय जो क्षत्रिय जाति अपने औदार्य्य, शौर्य्य, गाम्भीर्य्य, धैर्य्य, स्वधर्म्मानुराग, स्वदेशभक्ति, पराक्रम, निर्लोभता, अहिंसावृत्ति, अक्रोध, सत्य, और दानवृत्तिके कारण जगद्विजयिनी थी; अब उस जातिमें उक्त सद्गुणावलीका तो नाम मात्र भी नहीं रहा, वरन् उक्त जातिके वंशधर गण प्रायः लोभी, अनुदार, भीरु, चञ्चल, कदाचारी धर्म्मबुद्धिहीन, स्वार्थपर, आलसी, हिंसक, सत्यभ्रष्ट, तप-तेजहीन, कृपण और निर्बल दिखाई देते हैं। आज कलके पश्चिमीशिक्षाप्राप्त विकृतमस्तिष्क पुरुषगण यह कहने लगते हैं कि बहिराचारके साथ धर्म्माधर्म्मका कोई भी

सम्बन्ध नहीं है। इसमें उनका प्रमाद ही कारण है। अस्तु, दूरदर्शी मुनियोंका यही सिद्धान्त है कि यद्यपि काल-माहात्म्यके कारण देश-काल-पात्रको आवश्यकताके अनुसार और आपत्काल समझ कर चारों वर्णोंके आचारोंमें फेर पड़ना सम्भव है; परन्तु ऐसा यत्न होना अवश्य उचित है कि भारतवर्षमें ब्राह्मण वर्ण और क्षत्रिय वर्णके सदाचारसम्पन्न आदर्शजीवनके वंश जहां तहां अवश्य स्थायी रहें। साधारणतः इस बातका अवश्य ही ध्यानपूर्वक विचार रक्खा जाय कि ब्राह्मण-समाजमें तप, त्याग और निष्काम पुरुषार्थकी प्रवृत्ति जीवित रहे; और क्षत्रियसमाजमें स्वदेशानुराग, शौर्य्य और क्षात्रधर्म्माचारमें प्रबल इच्छा दिन प्रतिदिन उन्नतिको प्राप्त हो। इन दोनों वर्णगत आदर्शजीवनकी बीजरक्षा करनेके साथ ही साथ, इन दोनोंसे सम्बन्ध-युक्त दो प्रकारकी शरीरत्यागकी प्रशंसनीय शैलीका संस्कार उनमें प्रचलित रखना आवश्यकीय है। आर्य्य जातिके निकट योगयुक्त होकर समाधि दशामें शरीर त्याग करना और धर्म्म-युक्त होकर युद्धमें शरीर त्याग करना ये दोनों निःश्रेयसकर और अभ्युदयकर हैं। इन दोनों संस्कारोंकी बीजरक्षा अवश्य कर्तव्य है।

संन्यास आश्रम सब आश्रमोंका गुरुस्थानीय है; उसके विकार और सुधारके साथ अन्य वर्ण और आश्रमोंकी अवनति और उन्नतिका घनिष्ठ सम्बन्ध है; अतः इस चतुर्थ आश्रमके धर्म्मकी बीजरक्षा करना सर्वथा कर्तव्य है। परन्तु असुविधा यह है कि इस आश्रम पर

अन्य किसीका भी आधिपत्य नहीं है; संन्यासाश्रम स्वाधीन और प्रबल है। इस कारण इस आश्रमके धर्म्मकी बीजरक्षाके लिये उक्त आश्रमके नेताओंके द्वारा ही सफलता प्राप्त हो सक्ती है। शिवावतार श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्यजी महाराजने आर्य्य जाति और वर्णाश्रमधर्म्मकी सुरक्षाके लिये भारतवर्षकी चार दिशाओंमें जो चार पीठ स्थापन किये हैं और भारतवर्षको चार भागमें विभक्त करके धर्म्ममर्य्यादाकी सुरक्षाके अर्थ उक्त चारों पीठाधीश संन्यासी आचार्य्य प्रभुओंको सौंप दिया है * यह शैली बहुत ही दूरदर्शितासे पूर्ण है। इस समय इसी शैलीका संस्कार करके अपने लक्ष्यकी सिद्धि हो सक्ती है। उक्त चारों पीठोंमेंसे एक पीठ लुप्तप्राय हो गया है, उसका पुनरुद्धार किया जाय, और पुनः चारों पीठोंके आचार्य्य प्रभुओंमें ऐक्यसम्बन्ध स्थापन करवाकर उन चारोंकी सहायतासे संन्यासाश्रमसम्बन्धके अन्य उपपीठोंको मर्य्यादापालनमें तत्पर कराया जाय। उक्त चारों

* सिन्धु-सौवीर-सौराष्ट्र महाराष्ट्रास्तथांतरा।
देशाः पश्चिमदिक्स्था ये शारदापीठसात्कृताः॥
आन्ध्र-द्रविड़-कर्णाट केरलादिप्रभेदतः।
शृङ्गेर्य्यधीना देशास्ते ह्यवाचीदिगवस्थिताः॥
कुरु-काश्मीर-काम्बोज-पांचालादिविभागतः।
ज्योतिर्मठवशा देशा ह्युदीचीदिगवस्थिताः॥
अंग-वंग-कलिंगाश्च मगधोत्कलबर्बराः।
गोवर्द्धनमठाधीना देशाः प्राचीव्यवस्थिताः॥

इति श्रीमठाम्नाये।

पीठोंके चार प्रतिनिधिस्थान श्री काशीपुरी जैसे संन्यासाश्रम प्रधान तीर्थोंमें स्थापित करके वर्णाश्रमधर्म्मानुकूल यथार्थ संन्यासाश्रमकी बीजरक्षा और उसकी मर्य्यादाके पालनमें यत्न कराया जाय। कुसङ्ग, कुशिक्षा और आचार-भ्रष्टताके कारण द्विजगणके वंशके वंश वर्णसंकर, कर्महीन और कुलाचारत्यागी हो गये हैं; ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यगण कहीं कहीं द्विज करके पहचाने ही नहीं जाते । इस आपद्दशामें उनके सम्हालनेका यही प्रधान उपाय हो सक्ता है कि सदाचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यगण अपना अपना एक स्वतंत्र समूह बनाकर द्विजधर्म्मकी बीजरक्षा करें और सदाचारत्यागी वंशोंसे विवाहसम्बन्ध न रखकर अपने अपने वर्णोंकी बीजरक्षा करें। ऐसा होने पर गुणकी पूजा स्वतः ही समाजमें प्रचलित होगी और ऐसे सदाचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही कुलीन कहाने लगेंगे। आचारकी मर्य्यादा भी प्रतिष्ठित रहेगी, और जन्मगत वर्णसंस्कार भी जीवित रहेंगे।

सब वर्ण और सब आश्रमके तपकी वृद्धिके लिये तीर्थसेवा परम कल्याणकारी है। कालधर्म्म और विशेषतः आर्य्यजातिके अधःपतनके साथ ही साथ तीर्थोंकी दशा अति शोचनीय होती जाती है। अतः तीर्थोंकी मर्य्यादारक्षा, उनका संस्कार और तीर्थवासी ब्राह्मणोंमें धार्म्मिक शिक्षाके विस्तार करानेमें सदा यत्न रहना उचित है और आदर्शजीवन ब्राह्मण जिस से तीर्थमें वास करें इसके लिये यत्न होना उचित है। धर्म्मालय, धर्म्मस्थान,

एवं तीर्थादिके संस्कार विना धर्म्मसंस्कारकी बीजरक्षा स्थायीभावसे नहीं हो सक्ती; सुतराम् इन सबकी श्रीवृद्धिके अर्थ आर्य्यजातिका लक्ष्य सर्वदा रहना चाहिये। जब तक इस जातिके पुरुषोंमें वर्णधर्म्म एवं आश्रमधर्म्मकी बीजरक्षा होगी और नारियोंमें सतीत्व-धर्म्मकी बीजरक्षा होगी तब तक शत एवं सहस्र विप्लव होने पर भी इस जातिका नाश कोई भी नहीं कर सकेगा। सम्प्रति केवल सात सौ वर्षोंसे यह जाति पराधीनता-रूप क्लेशभोग कर रही है सो जिस अध्यात्म तत्त्वद-र्शिनीजातिका अस्तित्व लक्ष लक्ष वत्सरसे रहा है उसके अर्थ ये क्षणभङ्गुरक्लेश मशकदंशनसदृश तुच्छ ही जानना उचित है। यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है कि वर्णाश्रमधर्म्म एवं सतीत्वधर्म्मकी बीजरक्षा होने पर कालके अपरिहार्य परिणामसे यह अनादिकालस्थायिनी जाति पुनः अपने स्वरूपको प्राप्त होगी।

सब वर्ण और सब आश्रमोंकी आध्यात्मिक उन्नति-के लिये योग चतुष्टयका क्रियासिद्धांश परम आवश्य-कीय है*। अध्यात्मतत्त्ववेत्ता त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने जीवोंकी आध्यात्मिक उन्नतिके अर्थ असा-धारण परिश्रम द्वारा जो साधनकौशल प्रकाशित किया है सो कैसा नित्य-सत्यफलप्रद है; इसको योगीमात्र

---

* मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ।
योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
इति पूज्यपादमहर्षियाज्ञवल्क्यः ॥

ही समझ सक्ते हैं। योगचतुष्टयकी साधनव्यवस्था और उसका अधिकार-निर्णय अपूर्व विज्ञानयुक्त है, उन साधनविज्ञानोंका कुछ रहस्य कहा जाता है। जहां कुछ कार्य्य है वहां कम्पन है, जहां कम्पन है वहां शब्द

कार्य्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकं,
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा।
सृष्टिश्चैव तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत् स्पन्दिनी,
शब्दश्चाविरभूत्तदा प्रणव इत्योंकाररूपः शिवः॥
साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति,
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालत-
स्ते मन्त्रास्समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा॥
जगति भवति सृष्टिः पंचभूतात्मिका यत्,
तदिह निखिलसृष्टिः पंचभागे विभक्ता।
श्रुतिरपि विधिरूपेणादिशन्तीह पञ्च,
विविधविहितपूजारीतिभेदान् प्रमाणम्॥
प्रकृतिमिह जनानां सम्परीक्ष्य प्रवृत्तिम्,
गुरुरिह यदि दद्यान्मन्त्रशिक्षां यथावत्।
रुचिसमुचितदेवोपासनामादिशेद्वा,
व्रजति लघु स शिष्यो मोहपारं मुमुक्षुः॥
आकारो न हि विद्यते किमपि वा रूपं परब्रह्मणः,
रूपं तत्परिकल्प्यते बुधगणैः किम्वा जगद्रूपिणः।
ध्यायद्भिर्निजवृत्तिमार्गचलितैर्देवं परं रूपिणं,
मन्त्रं वा सततं जपद्भिरिह तैर्मुक्तिः परा लभ्यते॥
इति मन्त्रयोगसंहितायाम्॥

होना भी अवश्य सम्भावी है; अतः अध्यात्म विज्ञान-युक्त सूक्ष्म प्राकृतिक शब्दके प्रतिशब्दको मन्त्र

शरीरं द्विविधं प्रोक्तं स्थूलं सूक्ष्मं पृथक् स्मृतम् ।
स्थूलसाधनमुख्यं तु हठयोगं बुधा विदुः ॥
शोधनं दृढता चैव स्थैर्य्यं धैर्य्यं च लाघवम् ।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तञ्च हठस्य सप्तसाधनम् ॥
षट्कर्म्मणा शोधनञ्च आसनेन भवेद्दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ॥
प्राणायामाल्लाघवञ्च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः ।
समाधिना निर्लिप्तञ्च मुक्तिरेव न संशयः ॥
अभ्यासात् कादिवर्णानां यथा शास्त्राणि बोधयेत् ।
हठयोगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं हि लभ्यते ॥

इति घेरण्डादिसंहितायाम् ॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात् स्वयं ।
सुप्रभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया ॥
देहेऽस्मिन् वर्त्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः ॥
सृष्टिसंहारकर्त्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभो वायुश्च वन्हिश्च जलं पृथ्वी तथैवच ॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
समष्टिव्यष्टिरूपेण ब्रह्माण्डः पिण्ड उच्यते ॥
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते ।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥

कहते हैं। उन्हीं मन्त्रोंमेंसे प्रणवका घनिष्ठ सम्बन्ध साम्यावस्था प्रकृतिके साथ और बीजमन्त्रोंका घनिष्ठ

शिवे शक्तिर्लयं याति लययोगो भवेद् ध्रुवम्।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥
इति शिवादित्यादि संहितायाम्॥

मन्त्रो हठो लयो राजो योगोऽयं मुक्तिदः क्रमात्।
राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः॥
नादबिन्दुसहस्राणि जीवकोटिशतानि च।
सर्वं च भस्म निर्भूतं यत्र देवो निरञ्जनः॥
अहं ब्रह्मेति नियतो मोक्षहेतुर्महात्मनाम्।
दृश्यन्ते दृशिरूपाणि गगनं भाति निर्म्मलम्॥
सकलं निष्कलं सूक्ष्मं मोक्षद्वारविनिर्गतम्।
अहमित्यक्षरं ब्रह्म परमं विष्णुमव्ययम्॥
"अहमेकमिदंसर्वं" इति पश्येत् परं सुखं।
दृश्यते यत् खगाकारं खगाकारं विचिन्तयेत्॥
राजन्तं दीप्यमानं तं परमात्मानमव्ययम्।
प्रापयेद्देहिनां यस्तु राजयोगः सकीर्त्तितः॥
इति विज्ञानभाष्ये।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवाऽनुत्तमां गतिम्॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
इत्यादि श्रीगीतोपनिषद्।

सम्बन्ध वैषम्यावस्था प्रकृतिके सूक्ष्म भावोंके साथ है। अध्यात्मभावमय इष्टदेव मूर्त्तिके चिन्तनको ध्यान कहते हैं। यह विश्व नामरूपात्मक है, अतएव मन्त्र-योगका साधन मन्त्ररूपी नाम और इष्ट-ध्यानरूपी रूपके अवलम्बनसे किया जाता है; सगुण उपासनाकी मूल-भित्ति मन्त्र और देवता ही हैं। मन्त्र और इष्टरूपके अवलम्बनसे अन्तःकरणकी वृत्तियोंका निरोध करते हुए आध्यात्मिक उन्नति करना मन्त्रयोगसाध्य है। सूक्ष्म शरीरका परिणाम ही यह स्थूल शरीर है; अस्तु, सूक्ष्म-शरीर और स्थूल शरीर वास्तवमें एक ही सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण स्थूल-शरीरसम्बन्धी सुकौशलपूर्ण योगक्रिया द्वारा सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य करनेको हठयोग कहते हैं। शारीरिकक्रियाप्रधान हठयोगके साधनसे सूक्ष्म शरीरको जय करते हुए अन्तःकरणकी वृत्तियोंका निरोध करके आध्यात्मिक उन्नति करना हठयोगसाध्य है। लययोगका रहस्य कुछ अपूर्व ही है, समष्टि और व्यष्टि-रूपसे यह विश्वरूपी ब्रह्माण्ड और जीवशरीररूपी यह पिण्ड एक ही है; इसी कारण इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति, लय क्रियाके सुसम्पन्न करनेके अर्थ ब्रह्माण्ड शरीरमें जो पुरुषभाव, प्रकृतिशक्ति, ऋषि, देवता, पितर, नक्षत्र, ग्रह, सूर्य, चन्द्र आदि उपस्थित हैं, वैसे ही इस पिण्डरूपी जीव शरीरमें भी वे सब यथाधिकारसे स्थित हैं। ब्रह्माण्ड और पिण्डके सम्बन्धको यथावत् समझकर सूक्ष्म शक्तियोंकी सहायतासे अपनी अधिदैव शक्ति-को अपने अधीन करते हुए, सृष्टिकारणरूपिणी कुल-

कुण्डलिनीरूपा प्रकृतिशक्तिको परम पुरुषमें लय करते हुए और साथ ही साथ अन्तःकरणकी वृत्तियोंको जय करते हुए, आध्यात्मिक उन्नति करनेकी शैलीको लय योग कहते हैं।

मंत्रयोग, हठयोग और लययोगकी साधक, अपने अपने अधिकारके अनुसार, सविकल्प समाधिको परा-काष्ठाको पहुंच कर, राजयोगके उच्चतर अधिकारको प्राप्त कर सक्ता है। राजयोगका अधिकार सर्वोन्नत है। केवल विचारशक्तिकी सहायतासे अन्तःकरणकी चञ्चल अवस्थाको दूर करके निर्विकल्प समाधि भावके प्राप्त करनेको राजयोग कहते हैं। योगसाधनसे ही परमानन्द-की प्राप्ति होती है। वैज्ञानिक दृष्टिसे यही देखा जाता है कि जीवके पञ्च कोषोंमेंसे उद्भिज्ज जातिमें अन्नमय कोषका विकाश, स्वेदज जातिमें प्राणमयकोष-का विकाश, अण्डज जातिमें मनोमय कोषका विकाश, जरायुज जातिके जीवोंमें विज्ञानमय कोषका विकाश, और उनमेंसे मनुष्य जातिमें ही आनन्दमय कोषका विकाश हुआ करता है। उक्त पांच प्रकार के जीवोंमें उक्त पांचों कोषोंके यथाक्रम विकाशके लक्षण पाये जाते हैं। अस्तु केवल मनुष्योंमें ही आनन्दका लक्षण हास्य विद्यमान है। आनन्दका अधिकारी मनुष्य उन्नत अधिकारको प्राप्त करके योगसाधन द्वारा परमानन्दके प्राप्त करनेमें समर्थ हो सक्ता है। ये साधनचतुष्टय अधिकार भेदसे ही माने गये हैं। ये चारों मार्ग सना-तनधर्म्मोक्त उपासनाकाण्डकी मूलभित्ति हैं। ये

चारों कर्म्मकाण्डके सहायक हैं। और ये चारों ही यथाधिकार साधकको ज्ञानोन्नति कराकर निदिध्यासनकी परिपक्व दशा में पहुंचा देते हैं। ये साधनचतुष्टय जिस प्रकार साधकके चिरसखा हैं, इसी प्रकार धर्म्मोपदेशक, आचार्य्य और गुरुसम्प्रदायके परम सहायक हैं। कालमाहात्म्यके कारण इन साधनमार्गोंके क्रियासिद्धांश और रहस्यका प्रायः लोप हो गया है। अस्तु, सनातनधर्म्मके कल्याणार्थ इन साधनचतुष्टयोंके रहस्यज्ञान और क्रियासिद्धांशकी बीजरक्षा होना अत्यन्त आवश्यक है।

कलियुगमें दानधर्म्म ही प्रधान है क्योंकि कलियुग तमःप्रधान काल है। प्राचीन आर्य्योंमें जिस प्रकार निःस्वार्थभावपूर्ण कर्म्मयोगका प्रचार अधिक था, प्राचीन आर्य्यगण जिस प्रकार स्वार्थरहित होकर अपनी प्रत्येक क्रिया एवं आचारके द्वारा अहंकार भावका दमन कर विश्वजीवनके साथ अपने जीवनको अनुप्राणित करके एकीभूत करना जानते थे उस प्रकार और किसी भी मनुष्य जातिमें नहीं हो सक्ता। आर्य्य जातिमें दानधर्म्मका भी उच्च आदर्श सर्व साधारणमें विद्यमान था। आर्य्यशास्त्रोंमें दानवीरोंके ज्वलन्त दृष्टान्तके बहुत प्रमाण पाये जाते हैं। दानके सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेदोंका विचार करके सात्त्विक दानका महत्त्वस्थापन जिस प्रकार आर्य्यशास्त्रोंमें किया गया है उस प्रकार और कहीं देखनेमें नहीं आता। यह आर्य्यशास्त्रोंमें निर्णीत हुआ है कि तामसिक दानके द्वारा कभी कभी नरक पर्य्यन्त होता है। राजसिक दानके

द्वारा इहलौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय होता है और सात्त्विक दानके द्वारा ही केवल मुक्ति होती है। यदि कोई दस करोड़ रुपया दान करके मनमें अपना यश किंवा इहलौकिक वा पारलौकिक सामान्य इच्छा भी करे तो वह राजसिक दान होगा। और यदि कोई व्यक्ति एक कौड़ी भी निःस्वार्थ भावसे किसी अति दीन दरिद्र वा क्षुधार्त व्यक्तिको देकर अपनेको कृतार्थ समझे तो उसका वह धर्म्म सात्त्विक रूपमें परिणत होगा। सनातनधर्म्मविज्ञानके निकट उक्त प्रकार दस करोड़ मुद्राके दानकी अपेक्षा वह एक कौड़ीका दान अनेक गुणित मूल्यवान् है। आर्य्य जातिमें इस प्रकारके सात्त्विक दानके संस्कारकी बीजरक्षा करनी होगी।

सनातनधर्म्मके उन अङ्गोंकी बीजरक्षा सब प्रकारसे कर्तव्य है, जिनके द्वारा सनातन धर्म्मके महत्त्वका विकाश बना रहे, प्रजामें ब्रह्मतेज और क्षात्रतेजकी बीजरक्षा हो, वर्णाश्रमधर्म्म नष्ट न हो सके, सतीत्वका तीव्र संस्कार आर्य्यनारियोंमेंसे विलुप्त न होने पावे, आर्य्यप्रजामें ज्ञान-शक्ति और अर्थशक्ति बनी रहे, और साथ ही साथ जातिका लौकिक अभ्युदय भी होता जाय। ब्रह्मचर्य्याश्रमके धर्म्मोंमें वीर्य्यरक्षा और यथार्थ विद्या प्राप्त करना मुख्य है; गृहस्थ आश्रमके धर्म्मोंमें पञ्चमहायज्ञसाधन और यथाशक्ति सात्त्विक दानमें अधिकसे अधिक रुचि बढ़ाना, ये मुख्य धर्म्म हैं; वानप्रस्थाश्रम अर्थात् जो गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रमके बीचका आश्रम है, उसमें परोपकार व्रत, कामिनी काञ्चनका

त्याग और निवृत्तिसम्बन्धीय नियम पालन करना अभ्युदय-कारी धर्म्म हैं, और संन्यासाश्रमके धर्म्मोंमें द्वन्द्वरहित होकर, अन्तःकरणकी वृत्तियोंकी समता स्थापन करना, और प्रजामात्रकी आध्यात्मिक उन्नतिके अर्थ आत्मोत्सर्ग करना, ये निःश्रेयस-कारी धर्म्म हैं। शूद्रोंमें, सेवाबुद्धि और देशकी शिल्पोन्नति करना प्रशंसनीय धर्म्म है; वैश्योंमें गोधनकी वृद्धि, कृषिकी उन्नति और वाणिज्यकी वृद्धिसे धनोपार्जन करना, प्रधान धर्म्म हैं; क्षत्रियोंके लिये शारीरिक बल, शौर्य्य, स्वदेशानुराग और औदार्य्य ये उन्नति-कारी धर्म्म हैं, और ब्राह्मण वर्णके लिये विद्या, तप और त्याग ये निःश्रेयसकारी धर्म्म हैं। और मनुष्य मात्रके कर्तव्योंमें स्वजातीय आचारोंकी रक्षा, स्वदेशोन्नति, भगवद्भक्ति और आध्यात्मिक ज्ञान-वृद्धिमें यत्न करना प्रशंसनीय धर्म्म हैं। यद्यपि ज्ञानवान्, समदर्शी, उदार-हृदय और धर्म्मज्ञ सज्जनोंके निकट पृथिवी भरके सब धर्म्ममत, सब धर्म्म-पन्थ और सब धर्म्मसम्प्रदाय ही यथाधिकारधर्म्मरूपी सूर्य्यकी ज्योतिके यथायोग्य अधिकारी हैं परन्तु यह विज्ञानसिद्ध है कि अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत-रूप त्रिविधभाव और त्रिविध शुद्धिके कारण सनातन धर्म्म पूर्ण और सर्वलोकहितकर है। इन सब शुभ प्रस्तावों और सिद्धान्तों पर विचार रख कर महामण्डल-का कार्य्यविस्तार होना उचित है।

इति षष्ठोऽध्यायः।

सप्तम अध्याय ।

—o—

महायज्ञसाधन ।

साधारणतः धर्म्मके प्रधान २ अङ्गोंको शास्त्र यज्ञ शब्दसे अभिहित किया है* । जीवक्रमोन्नतिका जितने प्रकारके साधारण धर्म्मसाधन हैं वे सब ही य कहे जा सक्ते हैं । धर्म्मके विषयमें पूज्यपाद श्रीभगवा वेदव्यासजीने आज्ञा की है कि "धारणाद्धर्म्ममित्य हुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः । यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः" । अतः सब आचार, सब कर्म्म और स साधनोंमें अभ्युदय और मोक्षप्रद जो व्यापक शक्ति उसीको साधारणतः धर्म्म कहते हैं; और धर्म्मके प्रधा प्रधान साधनोंको यज्ञ नाम दिया गया है । तत्त्वदर्शं महात्मागणने धर्म्मके सार्वभौमरूप और यज्ञमें इस प्रकारसे भेदकल्पना की है । परन्तु यज्ञ तथा महायज्ञ शब्दके अर्थ में कुछ और ही भेद है ।

मनुष्योंके क्रमोन्नतिकारी धर्म्मसम्बधीय साधनके अर्थात् व्यष्टि जीवोंके उपकारक धर्म्मसाधनको यज्ञ

---

* दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥
सर्व्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥
इत्यादि श्रीगीतोपनिषद् ।

कहते हैं; और समष्टिरूपी ब्रह्माण्डके तृप्त करने योग्य साधनको "महायज्ञ" कहते हैं। इसी बातको और प्रकार-से समझ सक्ते हैं कि जीव-स्वार्थके वास्तवमें चार भेद हैं, यथा-स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोकार। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंका यह अनुभव है कि जीवके इह-लौकिक सुखसाधनको स्वार्थ कहते हैं, पारलौकिकसुखके लिये पुरुषार्थको परमार्थ कहते हैं। दूसरे जीवगणके इह-लौकिक सुखके साधन करानेमें अपनेको सुखी समझनेका अधिकार जब साधकको प्राप्त होता है उसीका नाम परोपकार है और दूसरे जीवगणके पारलौकिक कल्याण करानेके अधिकारको परमोपकार कहते हैं। स्वार्थ और परमार्थका सम्बन्ध यज्ञसाधनसे है; और परोपकार व परमोपकारका सम्बन्ध महायज्ञ साधनसे माना गया है। महायज्ञका अधिकार इसी कारण और भी उन्नत होनेसे उसकी विशेषता की गई है।

शास्त्रोंमें जो ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और नृयज्ञ इन पांचों यज्ञोंका महायज्ञ नाम दिया है उसके मूलमें भी यही रहस्य निहित है। नित्य-सिद्ध ऋषिगण जगत्में ज्ञानालोक विस्तार करनेके अर्थ परमात्माकी अध्यात्मशक्तिप्रद स्थायी विभूति हैं*उनको तृप्त

* अथैते कश्यपो व्यासः सनकश्च सनन्दनः ।
सनात्सनातनौ शुक्रो नारदः कपिलस्तथा ॥
मरीचिरत्रिः पुलहः पुलस्त्यो गौतमः क्रतुः ।
भृगुर्देवोऽङ्गिराश्चैव वशिष्ठश्च बृहस्पतिः ॥

करनेके अर्थ और जगत्में ज्ञानज्योतिविकाशकी सद्वासनासे उनके संवर्द्धन करनेके अर्थ जो नियमपूर्वक प्रति दिन वेद और अध्यात्म शास्त्रोंका पाठ अर्थानुगमपूर्वक किया जाता है उसको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। देवतागण भी परमात्माकी नित्य सिद्ध अधिदैव विभूति हैं, जीवगण के सदसद् कर्म्मोंके अनुसार उत्तम और अधम फल देनेमें उन्हीं का अधिकार है उनके तृप्त करनेके अर्थ और उनके संवर्द्धनद्वारा अपने कर्तव्यसे उऋण होने और ब्रह्माण्डकी कल्याणवृद्धिके अर्थ अग्निमें आहुति देनेसे देवयज्ञका साधन हुआ करता है † अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत सम्बन्धसे ऋषि, देवता और पितर ये तीनों ही श्री भगवान्की नित्यसिद्ध साक्षात् विभूतियां हैं। पितरोंमें

पतञ्जलिभरद्वाजौ कणादो जैमिनिस्तथा।
मैत्रेयः कौशिको याज्ञवल्क्यः शाण्डिल्य एव च॥
पराशरश्च वाल्मीकिर्मार्कण्डेयो बुधाग्रणीः।
ऋषयो नित्यरूपा ये नित्यज्ञानप्रदायिनः॥
वन्दे तान् परया भक्त्या पूर्णज्ञाननिकेतनान्।
इति श्रीगुर्वाम्नाये।

† सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
इति गीतोपनिषद्।

नित्यपितर * तो हैं ही, परन्तु देहसम्बन्धसे नैमित्तिक पितरोंका होनाभी शास्त्रसिद्ध है। अर्थात् अर्य्यमा आदि नित्यपितर, और आत्मीयगण देहत्याग करके पितृलोक प्राप्त होने पर नैमित्तिकपितर होतेहैं। पितरोंको तृप्त करनेके अर्थ तथा उनके संवर्द्धन द्वारा जगत्की आधि-भौतिक उन्नति करानेकी सद्वासनासे पिण्डादि दान करनेको पितृयज्ञ कहते हैं। उद्भिज्ज आदि सकल प्रकारके प्राणियोंकी तृप्ति व कल्याणकी सद्वासनासे तत्तत्सम्ब-न्धयुक्त देवताओंके द्वारा उनको बलि पहुंचानेको भूत यज्ञ कहते हैं। और चाहे किसी जाति, किसी अधिकार किसी धर्म्म और किसी देशका मनुष्य हो, अपने घर पर अतिथिरूपसे आने पर उसका श्रद्धासहित यथायोग्य सत्कार करनेसे नृयज्ञका साधन होता है।

पूज्यपाद भगवान् वेदव्यासजीने आज्ञा की है कि जिस प्रकार व्याघ्र वनके द्वारा सुरक्षित होता है उसी प्रकार मृगादि जन्तुओंसे वनकी सुरक्षा करनेके अर्थ वन-का राजा व्याघ्र कारण है। अर्थात् वनके आश्रयसे एवं मृगादि भक्ष्यजन्तु द्वारा व्याघ्र जिस प्रकार सम्वर्द्धित होता है उसी प्रकार अमूल्य उद्भिज्ज जीवोंकी रक्षाके

* नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय,
नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै
नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे
नमो वः पितरः पितरो वो, एहाचः पितरो दत्त
सतो वः पितरो देष्म्येतद्वः पितरो वास आधत्त ॥

इति यजुः।

वास्ते वनका राजा व्याघ्र मृगादि जन्तुओंका नाश करके वनरक्षाका कारण होताहै। औषधि, लता, गुल्म, वृक्ष रूपी उद्भिज्ज जीवोंसे लेकर स्वेदज, अण्डज, जरायुजादि सब प्रकारके प्राणियोंके साथ इस विश्व ब्रह्माण्ड-का जब व्यष्टि और समष्टि सम्बन्ध वैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाता है तो यही सिद्धान्त होता है कि सृष्टिका कोई अंग भी उपेक्षा करने योग्य नहीं है। सुतराम् यह भी सिद्धान्त होता है कि एक अंगकी सहायताके विना दूसरा अंग पुष्ट नहीं रह सक्ता। एक बार स्थिर होकर विचारनेसे ही निश्चय हो सकेगा कि विना अन्य प्राणियों-की सहायताके मनुष्य एक मुहूर्त्त भी जीवित नहीं रह सकता। मनुष्यके प्रत्येक श्वासमें लाखों जीव आत्मबलि देते हैं, मनुष्यकी तृषाकी तृप्तिके लिये जलान्तर्गत असंख्य जीव आत्मोत्सर्ग करते हैं, मनुष्यकी क्षुधाकी शान्ति करते हुए उसकी जीवनरक्षाके अर्थ प्रत्येक ग्रासमें कितने प्राणी बलि होते हैं, और मनुष्योंके ऐहलौकिक सुखसम्पादन करनेके अर्थ कितने प्राणियोंको क्लेश सहना पड़ता है। अन्य प्राणियोंके ऐसे ऋणसे क्या मनुष्य उऋण हो सकता है? अस्तु इन प्राणियोंके कल्याणार्थ देवताओंकी सहायतासे जो यज्ञ किया जाय सो अवश्य ही महायज्ञशब्दवाच्य होने योग्य है। इस उदारदृष्टिके अनुसार विवेचित होगा कि एक मनुष्य समस्त मनुष्य-समाज-शरीरका एक अङ्ग है, अतः धर्म्मके किसी विशेष साधनमें मनुष्यके साथ मनुष्यका यह एकत्वसम्बन्ध चिरस्थायी रख कर साधनके सुकौशल द्वारा आत्मोन्नति

करना ही नृयज्ञका तात्पर्य्य है। उन्नत साधक अपने अन्तः-करणके संकुचित अधिकारको जितना विस्तृत करके अपने जीवनके साथ विश्वजीवनका सम्बन्ध स्थापित करता जायगा उतना ही वह आध्यात्मिक उन्नतिका अधिकारी होता जायगा। महायज्ञके साधनोंमें इस आध्यात्मिक भावका पूरा विचार रक्खा गया है। श्री-भारतधर्म्ममहामण्डलका विराट् धर्म्मकार्य्य साधारणतः सर्वलोकहितकर और विशेषतः आर्य्य जातिका पुनरभ्युदयकारी होनेसे यह महायज्ञशब्दवाच्य है, इसमें सन्देह नहीं। गृहस्थोंके नित्यकर्मान्तर्गत पञ्चमहायज्ञके सदृश महामण्डलके भी पाँच कार्य्यविभाग रक्खे गये हैं।

भारतवर्ष कर्म्मभूमि है। अनादि कालसे इस पवित्र भूमिमें वैदिक कर्म्मकाण्डका साधन होता आया है, इस दैवो-भूमिमें नियमितरूपसे अनेकानेक भगवद्भक्त उपासक उत्पन्न होते आये हैं, और अध्यात्म-ज्ञानका पूर्ण विकाश इसी शुद्ध-भूमिमें हुआ है; इस कारण ऐसी हीन दशामें भी यहां सनातनधर्म्मावलम्बियोंमें जो धर्म्म-शक्ति विद्यमान है वैसी दृढ़ शक्ति अन्य धर्म्माव-लम्बियोंमें दृष्टिगोचर नहीं होती। सनातनधर्म्मकी असाधारण शक्ति ही कारण है कि अति प्राचीन कालसे असंख्य धर्म्म-मार्ग यहां उत्पन्न होते आये, परन्तु उनका नाममात्र भी अब नहीं है। जिस प्रकार शरीरमें कदाचित् दुःखदायी स्फोटक उत्पन्न होकर कुछ दिन तक शरीर क्लेशित करते हुए पश्चात् शरीरमें ही क्षय हो जाया

करते हैं उसी प्रकारसे असंख्य उपधर्म्म भारतवर्षमें समय समय पर उत्पन्न होकर पुनः इस अनादिसिद्ध धर्म्ममें लयको प्राप्त हो गये हैं। अगणित राज्यविप्लव और असंख्य धर्म्म विप्लवोंको सह कर भी यह पूर्णता युक्त सनातनधर्म्म अपने ही स्वरूपमें स्थित है। धर्म्म-पुरुषार्थकी जो जो उत्तम सामग्रियां होना उचित हैं उनमें से अनेक अब भी सनातनधर्म्मावलम्बी समाजमें उपस्थित हैं। विना राजानुशासनकी सहायताके वर्ण और आश्रमधर्म्मकी रीतियां प्रायः अपने स्वरूपमें प्रचलित हैं। समाजकी दृढ़ता अब भी अन्यधर्मियोंके सामाजिक अनुशासनसे अधिक है। अपने धर्म्ममें हानि पहुंचते देख कर अग्रजन्मा ब्राह्मणगणकी थोड़ी प्रेरणासे ही सब प्रान्तोंके नगर नगर, ग्राम ग्राममें धर्म्मसभाएं स्थापित हो गई हैं। राजाज्ञाका कोई नियम न रहने पर भी तथा नगर नगर ग्राम ग्राममें अगणित देवस्थान पहले ही से उपस्थित रहने पर भी ऐसा कोई नगर अथवा बड़ा ग्राम न होगा कि जहां नये देवस्थान नियमित बनते न जाते हों। कोई खोज ले अथवा न ले भिक्षा मांग कर भी ब्राह्मणोंके बालक शास्त्रके अध्ययन करने को नहीं भूले हैं। विना स्वार्थ संस्कृत विद्याके विद्वान् लोग विद्यार्थियोंको पढ़ाना अब भी परम धर्म्म समझते हैं। भारतवर्ष भर में ऐसा कोई नगर अथवा बड़ा ग्राम नहीं है कि जहां सेठ साहूकार राजा महाराजा व रईसों की संस्कृत पाठशालाएं न हों। छोटेसे लेकर सब बड़े तीर्थ स्थानोंमें इतने अन्नसत्र हैं कि चिरस्थायी दुष्काल

पड़ते रहने पर भी तीर्थोंमें प्रजा विना अन्न नहीं मरती है। इस विषयमें काशीका अलौकिक माहात्म्य जगत्-प्रसिद्ध है। चारों ओर से नाना प्रकार की रोक टोक रहने पर तीर्थों पर प्रजाकी भीड़ लगी ही रहा करती है। तीर्थवासी ब्राह्मणोंके अपने धर्म्म कर्म्म और स्वरूपको पूर्ण रूपसे भूल जाने पर भी उनकी आर्थिक दशा अन्य ब्राह्मणोंसे उत्तम है। धर्मके नामसे कठिनसे अति कठिन असम्भवसे अति असम्भव कार्य करनेकी भी प्रजाकी प्रवृत्ति देख पड़ती है। आज भी वर्णगुरु ब्राह्मण एवं आश्रम-गुरु संन्यासियोंका आदर समाजमें विद्यमान है। इन सब कारणोंसे यह मानना ही पड़ेगा कि सनातनधर्म्माव-लम्बियोंमें अब भी धर्म्मकी शक्ति विद्यमान है। अ-भाव इतना ही है कि भारतवासी प्रबन्ध करना भूल रहे हैं और यथार्थ ज्ञानका अभाव हो जानेसे सात्त्विक भावके स्थान पर तामसिक भाव बढ़ गया है। निय-मबद्ध अनुशासनव्यवस्था (Organization) के न होने से ही इस समय नाना प्रकारकी हानियां देखनेमें आती हैं। अस्तु, सनातनधर्म्मावलम्बी समाजको नियमबद्ध करके निष्काम पुरुषार्थकी पुनः प्रवृत्ति देकर धर्मोन्नतिकारिणी सामाजिक अनुशासनव्यवस्थाशक्तिके आविर्भाव करानेके लिये ही श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलका जन्म हुआ है।

नियम पालन करना ही अनुशासन व्यवस्थाकी भित्ति है। यह नियमरक्षाकी ही शक्ति है कि इस अनन्त ब्रह्माण्ड के अगणित ग्रह नक्षत्र अपने अपने स्थान पर

स्थित हैं और इस विश्वकी उत्पत्ति स्थिति और लय कार्य्य अपने क्रमके अनुसार ज्योंका त्यों चल रहा है। भगवद्‌आज्ञाके मिलानसे ही मनुष्योंका कर्तव्य निश्चय होना उचित है। अस्तु, इस संसारमें जो नियम पालन करनेमें तत्पर रहते हैं उनकी उन्नति होना निश्चित ही है। हमारी माननीय ब्रिटिश गवर्न्मेण्टकी नियम शक्ति ही कारण है कि, उसके विस्तृत राज्यमें सूर्य्यदेव अस्त नहीं होते। उनका साम्राज्य पृथिवी भरमें सब से अधिक शक्तिशाली धनवान् और नीतिज्ञ है, मानों स्वयं प्रकृति माता नाना प्रकारसे उनकी सहायता कर रही हैं। नियम पालनके विषयमें जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। नियम पालनके द्वारा जड़ पदार्थोंका इतना प्रभाव बढ़ जाता है, कि उन्नत मनुष्य भी उनके सेवक हो जाते हैं। इस वैज्ञानिक रहस्यका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि रेलगाड़ी सरीखे जड़ पदार्थकी पूर्ण रूप से अधीनता स्वीकार करनेमें परम तपस्वी तथा योगियोंसे लेकर राजा महाराजा गण तक सदा तत्पर देख पड़ते हैं। फलतः जब तक नियमबद्ध क्रमके साथ धर्म्मोन्नति कार्य्य नहीं चलाया जायगा तब तक सफलता की कोई भी आशा नहीं है।

प्राचीन कालमें धर्म्म शास्त्रोंके शासन का भार क्षत्रिय राजाओं पर ही था और शास्त्र और आचार्य्यके अनुशासनाधीन रह कर नरपतिगण अपने राजानुशासन द्वारा प्रजाको नियमबद्ध रक्खा करते थे। यद्यपि अब भी परमदयालु परमेश्वरकी अपार कृपासे आर्य्यप्रजाको

इस प्रकारकी नीतिज्ञ और उदार गवर्न्मेंण्ट मिली है कि वैसी उन्नत और प्रजारञ्जक गवर्न्मेंण्ट विदेशियोंके हित-के लिये पृथिवी भरमें और कोई भी देखनेमें नहीं आती, तथापि राजाकी जाति अन्यधर्म्मावलम्बिनी होने-के कारण वह हमको हमारे धर्म्मोन्नतिकर कार्य्योंमें अधिक सहायता देनेमें असमर्थ है। किन्तु उसकी उदारता से आर्य्यप्रजाको ऐसा सुअवसर मिला है, कि इस समय वह जैसा चाहे वैसा ही उत्तम प्रबन्ध बांध कर अपने धर्म्मके पुनरभ्युदय करनेमें समर्थ हो सक्ती है। सुतराम् आर्य्य जातिको अब यह भगवद्दत्त सुअवसर वृथा न गँवा कर ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्ति का संग्रह करके भारतवर्षव्यापिनी इस स्वजातीय विराट्धर्म्मसभाकी दृढ़तासम्पादन करनेमें प्रतिज्ञा बद्ध हो यत्नवान् होना उचित है।

नियमबद्धता (Discipline) एवं अनुशासनव्यवस्था (Organisation) यथारीति स्थापित न होनेपर कोई महत् कार्य्य पूर्ण नहीं होता। नियमबद्धता एवं अनुशासन-व्यवस्था ही संघशक्ति आविर्भाव करनेका प्रधान उपाय है। नियमबद्धता एवं अनुशासनव्यवस्था द्वारा भगवान्-की कृपाका लाभ होता है और एकमात्र संघशक्ति द्वारा ही कलिकाल में सफलता प्राप्त होती है श्रीभगवान् वेदव्यासजीने आज्ञा की है कि कलियुगमें संघशक्ति (बच्चायती शक्ति) का प्राधान्य है*; नियमबद्ध सभा

---

* त्रेतायां मन्त्रशक्तिश्च ज्ञानशक्तिः कृते युगे।
द्वापरे युद्धशक्तिश्च सङ्घशक्तिः कलौ युगे॥
इति भगवान् व्यासः॥

समिति द्वारा इस युगमें बड़ी बड़ी शक्तियोंका आविर्भाव हुआ करता है। त्रिकालदर्शी महर्षिगण अपने तपोबल द्वारा पूर्वयुगोंमें जो कुछ भविष्यवाणी कह गये हैं उनकी अक्षरशः सत्यता प्रकाशित होती जाती है। इस समय संघशक्ति द्वारा युरोप और अमेरिकामें क्या नहीं हो रहा है;–उन देशोंमें संघशक्ति द्वारा उनके धर्म्मकी सुव्यवस्था हो रही है, संघशक्तिके द्वारा ही वहां विद्या-विभागके सब प्रकारके प्रबन्ध चल रहे हैं। संघशक्ति द्वारा उन देशोंमें शिल्प और वाणिज्यकी असाधारण उन्नति हो रही है, संघशक्ति द्वारा ही वहांके राजानुशासनका सुप्रबन्ध हुआ करता है; वास्तवमें युरोप और अमेरिका संघशक्तिके विचारसे आदर्शभूमि हैं, और जापानकी असाधारण उन्नति इस संघशक्तिका ही साक्षात् फल है।

भगवदवतार श्रीभगवान् वेदव्यासकी आज्ञाका अवलम्बन करके और वर्त्तमान कालकी उक्त जातियोंके अभ्युदय तथा सफलता को उदाहरण मानकर अब आर्य्य-जातिको अपने अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्तिके अर्थ अपनी स्वजातीय संघशक्ति सम्पादन करना उचित है। "ओर्गेनिज़ेशन" (Organisation) अर्थात् नियमबद्ध अनुशासनव्यवस्थाशैलीकी सहायतासे स्वजातीय संघशक्तिकी उत्पत्ति द्वारा ही आर्य्यजाति अपनी दुर्दशाको दूर करके अपना सब प्रकार का कल्याण कर सकी है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय नहीं है। चिन्ताशील मुनियोंका यही सिद्धान्त है कि किसी बड़े कार्य्यके

करनेके उपयोगी किसी बड़ी शक्तिके उत्पन्न करनेमें यथावश्यक द्रव्यशक्ति, क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति इन त्रिविध कारणोंका समावेश करना पड़ता है। इस समय आर्य्यजाति घोर स्वार्थ-परता रोगसे उन्मत्त हो कर ऐसी हीन दशा को पहुंच गई है कि जिस धन को अपनी पूर्वावस्थामें वह धर्म्म, लोकहित और कर्तव्य बुद्धिके सन्मुख तुच्छ समझा करती थी, अब उसी धन को परम पदार्थ मान रही है और उत्तम कार्य्योंमें धनका व्यय न करके यक्ष की न्याईं उसका संग्रह करके रक्षा करना ही परम कर्तव्य समझ लिया है। अस्तु, इस घोर समयमें उनसे इस महायज्ञके लिये धनका दान करवाना बहुत ही कठिन कार्य्य है।

अतएव इस महायज्ञके अर्थ द्रव्य-शक्ति संग्रह करनेमें दो बातों पर विशेष ध्यान देना उचित है। प्रथम तो धन संग्रहके लिये ऐसे ऐसे सुगम उपाय निकाले जायँ कि जिससे इस अधःपतित जातिको साधारणतः धनदान करनेमें विशेष कठिनता न पड़े। और द्वितीयतः इस विराट सभाके प्रधान कोषको ऐसे दृढ़ नियम और उपयुक्त प्रबन्धके साथ स्थापित किया जाय कि जिससे प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीका विश्वास इस स्वजातीय कोष पर स्थापित हो सके। त्रिगुणके अपरिहार्य्य नियमके अनुसार प्रत्येक मनुष्यमें गुणत्रयकी वृत्ति का परिवर्तन समय समय पर हुआ ही करता है, कैसाही तामसिक मनुष्य हो, कभी न कभी उसमें सात्त्विक वृत्तिका उदय होना सम्भव है। किसी कारणसे जब ही सात्विक वृत्तिके

उदयसे किसीमें दान करने की प्रवृत्ति हो उस समय यदि उसको पूर्ण विश्वास हो जायगा कि हमारा दिया हुआ धन हमसे अधिक सावधानतासे रक्खा जाकर केवल सात्त्विक धर्म्मकार्य्यमें ही व्यय होगा, तो उस समय वैसे व्यक्तिकी दानप्रवृत्ति अवश्य ही बढ़ जाना सम्भव है। और क्रमशः इस विराट् सभाका मूल कोष कालान्तरमें बहुत ही उत्तम अवस्था को प्राप्त हो कर इस महायज्ञ का प्रधान सहायक बन सक्ता है।

मूलकोषके कार्य्यका भार किसी ऐसे विश्वस्त महाराजा अथवा धनाढ्य व्यक्तिको सौंपना युक्तियुक्त होगा कि जिस पर समस्त जातिका विश्वास हो। ऐसे योग्य पुरुषको मूलकोष सौंप कर अन्यान्य प्रान्तीय कोषोंका भी ऐसा ही उत्तम और दृढ़ प्रबन्ध किया जाय; और साथ ही साथ आय व्यय निरीक्षण, आय व्ययका प्रबन्ध, व्ययकी सम्हाल और हिसाब आदिके ऐसे दृढ़ नियम बनाकर सब कार्य्यों पर यथायोग्य व्यक्ति नियुक्त करना होगा कि जिससे जातिको किसी बातकी शङ्का न हो सके। और यह नियम विधिबद्ध करना होगा कि इस विराट् सभाके संरक्षक और प्रतिनिधि सभ्य महोदय गण अवश्य ही मूलकोषकी पुष्टिके लिये उनके स्वरूप और शक्तिके अनुकूल कुछ एककालिक दान देवें। धन-समागमका दूसरा उपाय यह होना उचित है कि राजा महाराजा और जमींदारोंसे स्थायी दानपत्रोंके द्वारा मासिक अथवा वार्षिक आय की व्यवस्था की जाय और उनके अतिरिक्त प्रान्तीय धर्म्ममण्डल, भिन्न भिन्न धर्म्म-

मण्डलियों और शाखासभाओंसे आयकी व्यवस्था की जाय। अस्तु, प्रान्तीय कार्य्यालय और शाखासभाओंके द्वारा अथवा सभ्य महोदयोंके द्वारा जो स्थायीरूपसे सहायता प्राप्त हो सो दान इस श्रेणी का समझा जाय। धन-समागम का तीसरा उपाय यह कर दिया जाय कि भारतवर्षके जितने प्रान्तोंमें प्रान्तीय कार्य्यालय रहें उन प्रान्तोंसे साधारणरूपसे जो वार्षिक अथवा मासिक चन्दा सर्वसाधारण धार्म्मिकोंसे अथवा उस प्रान्तीय धर्म्ममण्डलके सभ्य महोदय गणसे प्राप्त हो, वह सब उसी प्रान्तीय धर्म्मकार्य्यके अर्थ उसी प्रान्तीय कार्य्यालयके द्वारा व्यय किया जाय। प्रथम और द्वितीय प्रकारके धनागमका सम्बन्ध इस विराट् सभाके प्रधान कार्य्यालयसे रहे, और तृतीय प्रकारके धनागम का सम्बन्ध तत्तत्प्रान्तीय कार्य्यलयोंसे रहे। ऐसा होने पर आय-व्ययका सुबीता रहेगा और सबका पुरुषार्थ और उत्साह यथाधिकार बना रहेगा। धन-समागमका चौथा उपाय यह हो कि भारतवर्षके प्रधान प्रधान नगरों और ग्रामोंमें जहां जहां बाज़ार तथा मण्डियां व बन्दर आदि हैं, महामण्डलके कार्य्यकर्तागण तथा शाखासभाएं यत्न-पूर्वक वहांके क्रय विक्रय पर एक बहुत थोड़ी धर्म्मवृत्ति स्थापन करवावें। और उसी प्रकारसे बड़े बड़े कोठीवाले, व्यापारी सेठ साहूकार और यौथकारबारी कम्पनी (Limtied Company) आदिके क्रियविक्रय पर विशेष विशेष धर्म्मवृत्ति स्थापन करवावें एवं यदि सम्भव हो तो विशेष संस्थानोंमें भी वैसी ही सुकौशलपूर्ण धर्मवृत्ति स्थापन

करावें। उसके संग्रह तथा खर्च करनेके लिये उसी नगरकी शाखासभाको अधिकार हो। धर्म्मवृत्तिद्वारा संग्रहीत धन प्रधानतः उसी नगरमें ही शाखासभा, अनाथालय, विद्यालय आदि धर्म्मकार्य्योंमें व्यय हो। और उस नगरके धर्म्मकार्य्योंसे जो कुछ धन प्रतिवर्ष बचे वह महामण्डलके स्थायी कोषमें भेजा जावे। इस चतुर्थकोषके लाभसे वह २ ग्राम नगर और प्रान्त ही विशेषतः सुविधाप्राप्त हों। और धनसमागमका पञ्चम उपाय सबसे सुगम होना उचित है। सनातनधर्मावलम्बीमात्रको इस विराट् सभाका साधारण सभ्य बना कर उनसे कोई अति सुगम नियम पालन कराकर कमसे कम १) एक रुपया वार्षिक सहायता ली जाय। सब सभ्य महोदयोंको महामण्डलका मासिकपत्र विना मूल्य दिया जाय। इस विराट् सभाके मासिकपत्रसमूह इतनी भाषाओंमें विभिन्न नामसे प्रकाशित किये जांय कि जिनके द्वारा भारतवर्षके सब प्रान्तोंके अधिवासीगण अपनी २ मातृभाषाके द्वारा इस विराट् सभाके साथ सम्बन्ध स्थापन करके जातीय धर्म्मोन्नतिके सम्वादों को नियमित प्राप्त करते रहें। किन्तु चरम लक्ष्य यह रखना होगा कि जिससे सारे भारतवर्षमें एक हिन्दी भाषा प्रचलित हो। अथवा न्यूनपक्षमें एकमात्र देवनागरीलिपि भारतवर्षकी सब भाषाओंमें गृहीत हो सके। इस प्रबन्धके द्वारा इस स्वजातीय विराट् सभाकी पुष्टि होगी, सब प्रान्तोंमें शक्तिकी वृद्धि होगी और सब अधिकारकी आर्य्यप्रजाके साथ महासभाका घनिष्ठ सम्बन्ध

स्थापित हो सकेगा । इस पञ्चम उपाय द्वारा बहुत कुछ धनसमागमकी सम्भावना है; और साथ ही साथ विभिन्न भाषाके मासिकपत्रोंके प्रकाशित करनेमें बहुत कुछ व्यय होनेकी भी सम्भावना है। तथापि उत्तम प्रबन्ध होने पर और आर्य्यप्रजाकी रुचि इस विराट् सभा की ओर खिंच जाने पर इसी कोषकी आयसे इस विराट् सभाके मासिकपत्र और ग्रन्थ आदिके प्रकाशके सब कामोंका निर्वाह उत्तमरीतिसे होने पर भी अन्यान्य धर्म्म-विभागोंको पूर्ण सहायता मिल सकेगी। वास्तवमें आर्य्य प्रजा यदि सचेष्ट हो तो यही कोष अन्य किसी कोषकी अपेक्षा न रखकर सब कुछ कर सकेगा। कारण यह है कि साधारण यत्न द्वारा कोटि कोटि सनातनधर्म्मावलम्बियोंमेंसे लक्ष लक्ष साधारण सभ्य हो जाना कुछ भी असम्भव नहीं है। मूल कोषका भार प्रधान सभापति कार्य्यालय पर, द्वितीय कोषका भार प्रधानकार्य्यालय-पर, तृतीय कोषका भार उन उन प्रान्तीय कार्य्यालयों पर, चतुर्थ कोषका भार उन उन स्थानीय शाखासभाओं पर और पञ्चम कोषके सम्हालनेका भार श्रीमहामण्डलके छपाईविभागकार्य्यालय पर सौंपनेसे और सबकी यथावत् सम्हाल रखकर सब कोषोंकी उन्नतिके अर्थ यथा-वत् उत्साह देनेके नियम रखनेसे द्रव्यशक्तिकी अवश्य उन्नति होगी।

लोकसंग्रहके लिये भी बहुत ही दूरदर्शिताके साथ प्रबन्ध होना उचित है। लोकसंग्रहके द्वारा क्रियाशक्ति की उत्पत्ति हुआ करती है, यथायोग्य पुरुषोंको यथायो-

ग्य सभ्यपद देनेसे और यथायोग्य अधिकार पर स्थित करके उनके द्वारा यथायोग्य कार्य्य लेनेकी व्यवस्था करने से क्रिया शक्तिकी उन्नति होगी। इसमें सन्देह नहीं कि इस समयकी आर्य्य प्रजा अधःपतित होनेके कारण उस पर दृष्टि पड़नेसे हृदयमें निराशाका सञ्चार हुआ करता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय आर्य्य प्रजाका अधिक भाग अपने कर्तव्यको समझ ही नहीं सक्ता। इसमें सन्देह नहीं कि इस महायज्ञके स्वरूप और इस परम धर्म्मकी आवश्यकताको हृदयङ्गम करनेमें वह इस समय सर्वथा अयोग्य है। तथापि यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस स्थान में और जिस काम में जैसी सामग्री (मसाला) उपलब्ध होती है वहां उसी के द्वारा गृहनिर्माण किया जाता है। और यह भी निश्चय ही है कि योगयुक्त होकर कार्य्य करनेसे साधारण सामग्रीके द्वारा भी क्रमशः वृहत्कार्य्यसम्पादन हो सक्ता है।

सुकौशलपूर्ण कर्म्मको योग कहते हैं *। इस योगसाधनकी ऐसी महिमा है कि लौकिक क्रियासे अलौकिक फलकी सिद्धि हुआ करती है। उदाहरण स्थल पर विचारने योग्य है कि मन्त्र-योग और हठयोगकी स्थूल लौकिक क्रियाओंके साधनसे अलौकिक ईश्वरीय सिद्धियों तककी प्राप्ति होती है। केवल ऐसा ही नहीं किन्तु प्राकृतिक योगक्रिया ही अप्राकृतिक मुक्ति पद तक पहुंचा दिया करती है। यह सुकौशलपूर्ण योगक्रियाकी ही

* योगः कर्म सुकौशलम्। इति श्रीगीतोपनिषद्।

महिमा है कि कर्म जो जीवके बन्धनका हेतु है उसीको कर्म्मयोगकी सहायतासे करने पर वही जीवकी मुक्तिका हेतु हुआ करता है। योगकी सहायतासे विष भी अमृत हो जाता है। अस्तु, विशुद्ध ज्ञान-शक्ति, परोपकार-व्रत और निष्काम भगवद्भक्तिसे युक्त होकर यदि इस महायज्ञका साधन आरम्भ किया जायगा तो ऐसे विपरीत कालमें भी ऐसी अधःपतित जातिका कल्याण होना निश्चय ही है।

लोकसंग्रहके विषयमें इस विराट सभाकी सभ्य श्रेणीको पांच भागमें विभक्त करके प्रबन्ध बाँधना युक्तियुक्त होगा। प्रथम श्रेणीके सभ्य महोदयोंमें सनातन धर्म्मके सब प्रधान धर्म्माचार्य्य और स्वाधीन नरपतियोंको ग्रहण करना सुविधाजनक होगा। इन सभ्य महोदयोंका अधिकार सर्वोपरि समझा जायगा, ये संरक्षक कहावेंगे। धर्म्मव्यवस्था और अर्थव्यवस्थाके विषयमें वे दोनों विभूतियां यथाक्रम प्रधान मानने योग्य ही हैं; अस्तु इस सन्मानसूचक प्रबन्ध द्वारा उनसे यथा सम्भव सहायता लेने का नियम रखने पर उनकी यथा योग्य शक्तिकी सहायता प्राप्त हो सकेगी, और साथ ही साथ परस्परकी प्रेरणा और प्रजाकी सहानुभूतिसे वे भी अपने अधिकारको सम्हालनेमें तत्पर हो सकेंगे। भारतवर्षको प्रान्तीय धर्म्ममण्डलोंमें विभक्त करके प्रान्तीय कार्य्यालय स्थापन करनेमें सुविधा होगी। उक्त सब प्रान्तोंके गण्य मान्य नरपति, जमींदार, सेठ साहूकार और सामाजिक नेता चुन कर दूसरी श्रेणीके

सभ्य बना लिये जायं। इन्हीं सभ्य महोदयोंके अधिकार में महामण्डलके कोषकी सम्हाल, नियम उपनियमोंका बनाना और कार्य्यप्रणाली पर आधिपत्य करनेका साक्षात् भार रहेगा और ये प्रतिनिधि नामसे अभिहित होंगे।

अभी आर्य्य जातिमें नियमबद्ध अनुशासन (Organization) शैलीकी पूर्ण योग्यता नहीं है, इस कारण यह सम्भव नहीं कि साधारण चुनावसे प्रतिनिधि सदा चुने जाया करें। यद्यपि ये प्रतिनिधि महाशय गण, प्रजाकी ओरसे प्रतिनिधि ही होंगे, तथापि इन सबोंका नियमित समय पर चुनाव होना इस समय असुविधा जनक होगा। अतएव ऐसे प्रतिनिधियोंको कुछ तो प्रान्तीय प्रबन्ध बांधनेके समय स्थायीरूपसे चुन लिया जाय, और कुछ अंशके लिये ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि जो जो शाखाधर्म्मसभाएँ कार्य्यदक्षताका परिचय देवें उनको प्रति तीन वर्षमें एक प्रतिनिधिके चुनाव करने का अधिकार दिया जावे। ऐसे नियम द्वारा प्रजामें प्रतिनिधि चुननेकी योग्यता बढ़ेगी और साथ ही साथ शाखाधर्म्मसभाएं जो महामण्डलके अङ्गरूपसे मानी जायंगी उनको पुरुषार्थ करनेमें उत्साह मिलेगा। सब प्रान्तोंके प्रतिनिधियोंके सम्मेलनसे एक बड़ी प्रतिनिधि-सभा बन जायगी; जिसके सभापति और मन्त्री आदि भी नियत रहेंगे और प्रत्येक प्रान्तीयमण्डलके प्रतिनिधि महोदय गण अपने अपने प्रान्तोंमें अपने प्रान्तिक सभापति और मन्त्री आदिकी नियुक्ति करके अपने अपने प्रान्तीय मण्डलोंका प्रबन्ध करते रहेंगे।

धर्मव्यवस्थाके लिये तीसरी श्रेणीके सभ्य होंगे जिनका नाम व्यवस्थापक रखना युक्तियुक्त होगा। प्रतिनिधि महाशयोंके सदृश व्यवस्थापक महाशय भी सब प्रान्तीय धर्म्ममण्डलोंके द्वारा चुने जायंगे। व्यवस्थापक महाशय केवल सदाचारी, धर्म्मज्ञ, संस्कृताध्यापक ब्राह्मणोंमेंसे ही चुने जायंगे। वे महामण्डलके द्वारा सन्मानित पुरस्कृत एवं क्रमोन्नत होकर धर्म्मसम्बन्धीय व्यवस्थापत्र देकर और अन्यान्य धर्म्मकार्य्योंमें सहायक रहकर आर्य्य जातिकी धर्म्मोन्नति करावेंगे।

चतुर्थ श्रेणीके सभ्य सहायक कहलावेंगे। भारतवर्षके किसी प्रदेशके किसी सम्प्रदाय अथवा किसी अधिकारके, जिन जिन योग्य पुरुषोंको महामण्डल सन्मान देना चाहेगा, जो महाशय कहीं भी संस्कृत विद्या और सनातनधर्म्मकी उन्नतिके अर्थ विशेष चेष्टा अथवा स्वार्थत्याग करते होंगे, अथवा महामण्डलके उद्देश्योंके अर्थ जो धार्मिकगण कुछ स्वार्थत्याग करेंगे, उनको सहायकसभ्यश्रेणीमें युक्त करना युक्तियुक्त होगा। विद्यासम्बन्धसे सहायक, धर्म्मकार्य्यसम्बन्धसे सहायक, धनदानसम्बन्धसे सहायक, धर्म्मसेवक ब्राह्मण गण और परोपकारव्रतधारी साधुगण, इस प्रकारसे कई विभागके सहायक सभ्य होंगे। और पञ्चम श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य कहावेंगे। सनातनधर्म्मावलम्बीमात्र ही किस प्रकारसे साधारण सभ्य होंगे सो हम पहले कह चुके हैं। सुतरां सुकौशलपूर्ण रीति द्वारा इस महायज्ञके सम्पादनार्थ इस प्रकारसे लोकसंग्रह किया जाय कि जिससे आर्य्य

जातिका कोई अंश भी उपेक्षणीय न हो। यदि च संरक्षक महोदय, प्रतिनिधि महोदय और व्यवस्थापक महोदयोंमें स्त्री जाति नहीं हो सक्ती, परन्तु सहायक सभ्यश्रेणीमें और साधारण सभ्यश्रेणीमें कुलकामिनियोंको ग्रहण करके उनके उत्साह बढ़ानेसे महायज्ञमें सहायता मिल सकेगी। इसी सुकौशलपूर्ण शैली पर कार्य्य करनेसे आर्य्य जातिकी लोकसंग्रह शक्तिकी पूर्णता हो सकेगी।

आर्य्यजातिके वैदिक पञ्च महायज्ञके सदृश इस अध्यात्म महायज्ञके भी पाँच कार्य्यविभाग होना धर्म्मानुकूल होगा। प्रथम धर्म्मप्रचारविभाग द्वारा भारत वर्षके नगर नगर और ग्राम २ में शाखाधर्मसभाओंका स्थापन करना होगा तथा उनको दृढ़ नियमोंके साथ चला कर जीवित रखना होगा शाखाधर्म्मसभाओंके अतिरिक्त अन्यान्य उपयोगी सभासमूहोंके साथ भी सम्बन्धस्थापनका नियम रखना उचित होगा। ऐसी सभाओंका नाम पोषकसभा होगा। इसी विभाग द्वारा पोषक सभाओंको भी सम्बन्धयुक्त किया जायगा; अर्थात् महामण्डलके उद्देश्योंमेंसे किसी उद्देश्यकी पुष्टि करने वाली सभाएं, पोषकसभारूपसे सम्बन्धयुक्त हो सकेंगी। विद्योन्नतिकारिणी समाजोन्नतिकारिणी शिक्षा, वाणिज्य, कृषि, कला, पदार्थ विद्या आदि की उन्नति कारिणी सब सभाएँ ही पोषकसभारूपसे सम्बन्धयुक्त (Affiliated) हो सकेंगी। धर्मोपदेशक, धर्म्मप्रचारक पुस्तक मासिकपत्र आदि द्वारा यह कार्यविभाग

शाखासभाओं और पोषकसभाओं एवं सभ्य महोदयगण को सहायता किया करेगा। अस्तु जिन जिन कार्य्योंके द्वारा सनातनधर्म्मके पुनः प्रचारमें और उसके पुनरभ्युदय में सुभीता हो सो यह विभाग किया करेगा।

द्वितीय कार्य्यविभागका नाम धर्म्मालयसंस्कार विभाग होगा। सनातनधर्म्मसम्बन्धी तीर्थ, मठ, मन्दिर, अन्नसत्र, धर्म्मशाला और सब प्रकारके धर्म्मालयोंके संस्कार, उन्नति और सुरक्षा करनेका कार्य्य-भार यह कार्य्यविभाग उठावेगा। धर्म्म-प्राण आर्य्य जातिके इतने धर्म्मालय हैं कि उतने धर्मालय पृथिवी की और किसी जातिके नहीं हैं। अब भी आर्य्य जातिके आयके अनुसार उसके धर्म्मालयोंका धनागम बहुत अधिक है; इसमें सन्देह नहीं। परन्तु जातिके अधःपतन के साथ ही साथ धर्म्मालयोंकी ऐसी हीन दशा हुई है कि इस हीनताकी बात जितनी कही जाय, उतनी ही थोड़ी है। अब भी यदि नियमबद्ध प्रबन्ध द्वारा उनके दाताओंकी सहायता लेकर उत्तम धर्म्मानुरागी निरीक्षक और सुप्रबन्धकारिणी सभाओंकी सहायतासे उनका संस्कार और सुरक्षा की जाय तो बहुत कुछ धर्म्मोन्नति हो सकती है; और साथ ही साथ जातीय दानको यथायोग्य धर्म्मकार्य्योंमें सात्त्विक रीतिसे व्यय कराने पर आर्य्य जातिकी उन्नतिमें बहुत सहायता मिल सकती है।

श्रीमहामण्डलके तृतीय कार्य्यविभागका नाम "श्रीशारदामण्डल" रख कर उसको किस प्रकारसे कार्य्य-

कारी बनाना उचित है, सो हम विस्तृतरूपसे सुपथ्यसेवन नामक अध्यायमें वर्णन कर ही चुके हैं। संस्कृत पुस्तकें कि जो धर्म्म और ज्ञानोन्नतिका भांडार हैं उनके संग्रह, प्रकाश, अनुसन्धान और संरक्षा करनेके लिये एक स्वतन्त्र विभाग होना उचित है। इस चतुर्थ कार्य्यविभागका नाम पुस्तकसंग्रहविभाग अथवा कोई और उपयुक्त नाम दिया जाय। और इन सब कार्य्यविभागों की सहायता करनेके अर्थ शास्त्रप्रकाश और मुद्राङ्कण (छपाई) विभाग आदि स्वतन्त्र स्थापन किया जाय। किसी सार्वजनिक नियमबद्ध प्रबन्धको स्थापन करके उसको चिरस्थायीरूपसे सुदृढ़ करनेके अर्थ पुस्तकप्रकाश और मुद्राङ्कण (छपाई) कार्य्य परमावश्यकीय है। इस पञ्चम विभागके अधीन एक स्वजातीय आदर्श पुस्तकालय (पुस्तक विक्रयभाण्डार) एवं एक सर्वाङ्गपूर्ण यन्त्रालय (छापाखाना) स्थापित करके इस विभागको सुदृढ़ करना होगा। अस्तु, इस प्रकारसे इस महायज्ञके पांच कार्य्य विभाग सभी स्वतंत्रता और दृढ़ताके साथ कार्य्य करते हुए आर्य्यजातिकी उन्नति और धर्म्मके पुनरभ्युदयमें परम उपयोगी होंगे।

इस विराट् सभाका प्रधान कार्य्यालय सनातन धर्म्मके स्वभावसिद्ध केन्द्रस्थल श्रीकाशीपुरीके एक विस्तृत, उपयोगी और पवित्र स्थानमें स्थापित होना उचित है। प्रधान कार्य्यालयका धर्म्मकार्य्य एक सुदृढ़ नियमबद्ध प्रबन्धकारिणी सभाके द्वारा चालित होना उचित है। उक्त प्रबन्धकारिणी सभामें यद्यपि श्री काशीपुरीके भी आवश्यकीय सभ्य महोदयगण होंगे

परन्तु अन्य सब प्रान्तीय मण्डलोंसे भी इस सभामें यथायोग्य सभ्य इस रीति पर सम्मिलित किये जांय कि इस सुकौशलपूर्ण व्यवस्थाके द्वारा सबको उत्साहित होनेका अवसर प्राप्त हो। और उसी उदाहरणके अनुसार सब प्रान्तीय मण्डलोंमें भी स्वतंत्र २ प्रबन्धकारिणी सभाएं स्थापित रहें। प्रधान प्रबन्धकारिणी सभा और प्रान्तीय प्रबन्धकारिणी सभा सब ही यथायोग्य सभापति और अध्यक्ष (कार्य्यकर्ता)से इस प्रकार युक्त रहेंगी कि जिससे उक्त कार्य्यालयोंका कार्य्य यथाविधि निर्व्वाहित हो सके।

प्रधानकार्य्यालयके अध्यक्षका नाम प्रधानाध्यक्ष रखना युक्तियुक्त होगा। उन सब प्रबन्धकारिणी सभाओंका चुनाव नियमित समय पर होकर कार्य्यकी पुष्टि और सार्वजनिक प्रसन्नताका लाभ करना अति आवश्यक होगा। जिससे सब कार्य्यालयोंमें और प्रधान प्रधान कार्य्यकर्ताओंमें दृढ़ सम्बन्ध रहे, जिससे परस्पर में सब सहायतादान कर सकें, जिससे सब अपने अपने अधिकारके अनुसार अपने कार्य्योंको करते हुए अन्य कार्य्योंको यथाक्रम सम्हाल सकें, ऐसे सुदृढ़ और सुकौशलपूर्ण नियम और उपनियमोंका प्रणयन करके इस महायज्ञका साधन प्रारम्भ करना होगा। ऐसे सुकौशलपूर्ण नियम और उपनियम द्वारा इस स्वजातीय विराट् धर्म्मसभाको अनुशासनबद्ध किया जाय कि सब प्रकार के अधिकारी इसमें सम्मिलित हो कर, इसकी समष्टि शक्तिकी वृद्धि कर सकें और साथ ही साथ जहां कहीं

संस्कृतशिक्षा की उन्नति और सनातन धर्म्मके अभ्युदय के अर्थ जो सभा, समिति, विद्यालय, पुस्तकालय और अनेकानेक प्रकारके धर्म्मालय हों सो सब पारस्परिक प्रेम और सहायताके अर्थ इस विराट् सभासे प्रबन्ध-युक्त हो सकें।

इस विराट् सभासे सम्बन्धयुक्त सब व्यक्ति और सभा आदिको उनके अधिकार और सन्मानके अनुसार सन्मानपत्र, प्रमाणपत्र, आदि देकर सम्बन्ध दृढ़ करते हुए उनका उत्साह बढ़ाना युक्तियुक्त होगा। और जब इस विराट् सभाका महाधिवेशन हो, उस सुअवसर पर सद्विद्या और धर्म्मपुरुषार्थके सहायक योग्य व्यक्तियोंको उपयुक्त उपाधि और पुरस्कार चिह्न आदि द्वारा उत्साहित करनेका प्रबन्ध करना सर्वथा इस महायज्ञके साधनानुकूल होगा। क्रमशः इस महासभाकी शक्तिकी वृद्धि होने पर स्वाधीन नरपतियोंसे लेकर साधारण प्रजा पर्य्यन्त, महामहोपाध्याय पण्डित मण्डलीसे लेकर निरक्षर धर्म्मानुरागी व्यक्ति पर्य्यन्त स्वजातीय सम्मान लाभ करते हुए स्वजातीय धर्म्मप्रवृत्ति और विद्यानुरागके अर्थ उत्साह पा सकेंगे। स्वजातीय तिरस्कार और पुरस्कारकी रीतिके पुनः प्रचार होनेसे समाज और समाजपतिगण कर्तव्यपरायण हो सकेंगे। क्रमशः इस विराट् सभाकी योग्यताकी वृद्धि होने पर बड़े बड़े राजा महाराजा भी इस महायज्ञमें यशलाभ करनेके अर्थ इसके सन्मान पानेके इच्छुक होकर धर्म्म-सेवामें प्रवृत्त होंगे।

केवल द्रव्यके संग्रह करनेसे ही द्रव्य-शक्तिकी वृद्धि नहीं होती, किन्तु संग्रहीत द्रव्यको सात्त्विक रीतिसे उद्देश्यानुकूल व्यय करनेसे द्रव्य शक्तिकी वृद्धि हुआ करती है। अस्तु, इस विराट् सभाके कार्य्यकर्त्ता महाशयोंकी दृष्टि जिस प्रकार इन धनकोषोंके संवर्द्धनकी ओर रहना उचित है, उसी प्रकार उनकी यह भी दृष्टि रहनी चाहिये कि इस महायज्ञके अर्थ संग्रहीत एक कपर्द्दक भी विचारविरुद्ध रीतिसे व्यय न हो; संग्रहीत धन जब धर्मानुकूल रीति पर व्यय होता है तब ही धनकी अधिष्ठात्री देवी श्रीलक्ष्मीजीकी पूर्ण कृपा हुआ करती है, और तब धनका अभाव कदापि नहीं रहता। अस्तु, इस विराट् सभाके कोषोंका ऐसा सुप्रबन्ध होना उचित है कि प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीको धनकी सुरक्षा और उसके सद्व्यय होनेका पूरा विश्वास हो जाय, उसके आय व्ययका संक्षेप लेखा साधारणतः प्रकाशित हो और विशेषतः सब दाताओंके पास पहुंचा करे। जिस धर्म्मकार्य्यविभागके लिये जो धन संग्रहीत हो वह जहाँ तक सम्भव हो उसी धर्म्मकार्य्यमें ही व्यय हो; प्रत्येक आयसे व्यय न्यून ही हो, अधिक न हुआ करे; और कार्य्यकर्तागण श्रीलक्ष्मी देवीकी कृपाप्राप्तिकी ओर सदा दृष्टि रक्खें, इस प्रकार करनेसे द्रव्यशक्तिकी पूर्णता होगी।

क्रियाशक्तिकी उन्नतिके अर्थ कई बातोंका विचार रखना उचित है। नियमबद्ध अनुशासनव्यवस्था (Organization) का मूलमन्त्र यह है कि छोटेसे लेकर

बड़े से बड़े कार्य्यकर्त्ता तक और छोटेसे लेकर बड़े से बड़े कार्य्यालय तक सब यथाक्रम एक दूसरेके कार्य्य को सम्हालते रहें, और प्रत्येक कर्त्ताकी योग्यता अयोग्यताके सम्बन्धसे पुरस्कार और तिरस्कारकी शैली भी यथाक्रम बनी रहे। इसमें सन्देह नहीं कि कार्य्यकर्त्ताओंकी योग्यता और धर्मबुद्धिसे ही कार्य्यकी उन्नति हुआ करती है, इसमें सन्देह नहीं कि यथायोग्य सभ्य महोदय गणको यथायोग्य कार्य्याधिकारके पद देनेसे ही इस महायज्ञकी पुष्टि हो सकेगी, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि यथाक्रम सम्हाल रखनेकी प्रणाली और तिरस्कार पुरस्कारकी शैली दृढ़ नियमके साथ स्थायी रखने पर अवश्य ही सफलता हुआ करती है और अयोग्य पात्र भी कालान्तरमें योग्य पात्र बन जायाकरते हैं।

जिस प्रकार मनुष्यकी बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था एवं वृद्धावस्था ये चार अवस्थाएँ हैं उसी प्रकार मनुष्यजातिकी भी चार अवस्थाएँ होती हैं एवं इन सकल अवस्थाओंके अनुसार धर्म्मोंके अवस्थापरिवर्तनके साथ धर्म्मपुरुषार्थका भी परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है और जिस प्रकारसे कायाकल्प करके मनुष्य जराग्रस्त शरीरका परिवर्तन कर पुनः नूतन शरीर पा सक्ता है, उसी प्रकार सुकौशलपूर्ण नियमबद्ध अनुशासनव्यवस्था (Organization) के द्वारा मनुष्य जाति भी नूतनशक्ति लाभ कर सक्ती है। आर्य्यजाति की इस समय जराग्रस्त अवस्था है। इसको कायाकल्प करना होगा। इस समयकी इस प्रथम अवस्थामें कर-

णीय पुरुषार्थकी बात इस अध्यायमें कही गई है। आर्य्य जातिके नूतन जीवनमें क्रमशः जिस प्रकार परिवर्तन होगा, नियमबद्ध अनुशासनके नियमोंमें भी वैसे वैसे ही क्रमशः यथावश्यक परिवर्तन करना होगा। अर्थात् इस महायज्ञकी कार्य्यकलापविधिमें भी क्रमशः कुछ परिवर्तनकी आवश्यकता होगी। परिवर्तन करने पर क्रियाशक्तिके नियमोंमें भी प्रधानतः परिवर्तन करना होगा एवं लोकसंग्रहव्यवस्थामें क्रमशः उदारतावृद्धि करना होगा। उदाहरणरूपसे कहा जा सक्ता है यथा इस समय स्थायी प्रतिनिधि एवं अस्थायी प्रतिनिधि निर्व्वाचनकी जो विधि है, शिक्षावृद्धिके साथ साथ उसको परिवर्तित करना होगा। क्रमशः साधारण प्रजा जिससे सङ्घशक्तिके साथ अधिकरूपसे अनुप्राणित हो सके, शिक्षावृद्धिके साथ साथ उस पर लक्ष्य रखना होगा एवं क्रमशः उस लक्ष्यकी सिद्धिके अर्थ इस महायज्ञके नियमोंका परिवर्तन करने पर यह महायज्ञ अधिकरूपसे फलवान् होगा। आर्य्यजातिकी क्रमोन्नतिके साथ ही साथ जैसे जैसे उसकी सामाजिक राजनैतिक और धार्म्मिक दशाकी उन्नति होगी उसी प्रकार जातीय महाशक्तिप्रवर्तक इस महायज्ञके नियमोंमें भी परिवर्त्तन करना आवश्यकीय होगा। उन्नतिके साथ ही साथ इस महायज्ञके नेतागण उक्त परिवर्त्तनोंकी क्रमोन्नति कर सकेंगे।

पदार्थविशेषके घात प्रतिघातसे जिस प्रकार तड़ितप्रवाहकी उत्पत्ति होती है उसी शैलीके अनुसार मनुष्यजातिगत शरीरमें भी नियमबद्ध प्रबन्धके द्वारा

पारस्परिक सहयोगितासे भगवद्विभूतिस्वरूप पुरुषार्थ-रूपी महाशक्तिकी उत्पत्ति हुआ करती है और पुनः द्रव्य-शक्ति क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति इन तीनोंके अथवा प्रधानतः किसी दोके परस्परके घात प्रतिघातसे वह मनुष्यजाति-गत पुरुषार्थ शक्ति (क्रिया-शक्ति) चिर-स्थायी रहा करती है। क्रियाशक्तिको जीवित रखनेके अर्थ संसार सुखेच्छु व्यक्तिगण द्रव्य शक्तिकी सहायता-प्राप्तिकी वासनासे उक्त क्रियाशक्तिका संवर्द्धन करते रहेंगे और निष्कामव्रतधारी ज्ञान-शक्तिसम्पन्न साधु-गण कर्त्तव्यबुद्धिके अधीन होकर क्रिया-शक्तिकी पुष्टि करते रहेंगे। किन्तु जब तीनों प्रकारकी शक्तिका एका-धारमें समावेश होता है और जब तीनों प्रकारके अधि-कारियोंका पुरुषार्थ एक ही लक्ष्यकी प्राप्तिके अर्थ नियो-जित होता है तभी बड़ेसे बड़ा कार्य्य सुसम्पन्न हो स-कता है। जब साधकगण कर्त्तव्यपरायण होते हैं, जब धर्म्म-लक्ष्यसे युक्त होकर कार्य्यकर्तागण अपने कार्य्यमें पूर्ण रीतिसे तत्पर रहते हैं और जब निष्काम व्रतको ही सब अधिकारी श्रेष्ठ धर्म्म करके मानने लगते हैं, तब ही धर्म्मके अधिष्ठाता देव श्रीविष्णु भगवान् प्रसन्न हुआ करते हैं। चाहे किसी प्रकारका कार्य्य हो, सब कार्य्य ही परोप-कार भाव और जगत्कल्याणबुद्धिसे करने पर भगवत्-कार्य हुआ करते हैं; जो पुरुष सब समय धर्म्मकार्य्यमें परमार्थबुद्धि रख कर उद्यत रहते हैं, वे ही यथार्थमें भगवद्भक्त हैं। परम-तत्त्वदर्शी मुनियोंके सिद्धान्तमें जगत्हितकर कर्म ही साक्षात् कार्य्यात्मा परम ब्रह्म हैं;

ऐसे कार्य्यात्मा परब्रह्मकी अहैतुकी भक्ति करना ही ब्रह्मोपासना है और ऐसे कार्य्यात्मा ब्रह्ममें सदा लय हो कर रहना ही जीवन्मुक्ति है* । ऐसे ही महापुरुषोंके द्वारा यथार्थरूपसे ज्ञान-शक्तिकी सहायता मिल सकती है । परन्तु इस कराल कलिकालमें ऐसे आदर्शजीवन महापुरुषोंका बहुत ही अभाव हो गया है । तथापि यदि आर्य्यजाति अब भी अपने कर्त्तव्यके समझनेमें यत्नवती हो तो इस कर्म्म-भूमि भारतवर्षमें ज्ञानशक्तियुक्त महापुरुषों का उसको अभाव न होना ही सम्भव है ।

परमात्मा सर्व्वव्यापक हैं; और ज्ञान उनका स्वरूप है, अतः आर्य्य-जाति भगवदुन्मुख और धर्म्मेच्छु होने से अपने आप ही उसको ज्ञान-शक्तिकी प्राप्ति हो जायगी । तत्त्वदर्शी मुनियोंका यह भी सिद्धान्त है कि द्रव्य-शक्ति और क्रिया-शक्ति यदि सुकौशलपूर्ण रीति से धर्म्मानुकूल नियोजित की जायँ, तो उनसे सम्बन्धयुक्त कार्य्यकर्ताओंमें अपने आप ही ज्ञान शक्तिका प्राकट्य हो जाया करता है । जब संग्रहीत द्रव्यके धर्म्मानुकूल व्यय करनेसे देवता गण प्रसन्न होकर कार्य्यकर्ताओंके अन्तःकरणको शुद्ध करेंगे; जब क्रिया-शक्तिकी उत्पत्तिके अर्थ कर्त्ता गण सात्त्विक बुद्धिसे युक्त हो कर, सब एकलक्ष्य हो लोककल्याणके कार्य्यमें प्रवृत्त होंगे

* अकुण्ठं सर्वकार्य्येषु धर्म्मकार्य्यार्थमुद्यतम् ।
वैकुण्ठस्य हि यद्रूपं तस्मै कार्य्यात्मने नमः ॥
इति महाभारते भीष्मस्तवराजे ।

जब सब सभ्य गण, कर्त्तव्यपरायण होकर, राग-द्वेष-रहित होते हुए, एक विषयकी चिन्तामें तत्पर होंगे तब सर्वव्यापक परमात्मा अवश्य ही उनके अन्तःकरणमें ज्ञान-ज्योतिका विकाश करके उनके पथप्रदर्शक बन जांयगे। युरोप, अमेरिका और जापान आदि देशोंमें जहां तत्त्वदर्शी महापुरुषोंका अभाव ही है, वहांके लोक-हितकर धर्म्मपुरुषार्थोंमें विशुद्ध ज्ञान-शक्तिका प्रकाश इसी रीति पर होता है। जब कलियुगमें सङ्घ-शक्ति ही भगवच्छक्ति है, तब इस समय क्रिया-शक्तिसम्पन्न मनुष्य-सङ्घमें भगवत्सहायतारूप ज्ञान-शक्तिका प्राकट्य होना स्वतः सिद्ध है। क्रिया शक्तिकी उन्नति एवं ज्ञानशक्तिका विकाश करनेके अर्थ और एक विशेष उपाय अवलम्बन करना होगा। भक्तिमान् सभ्योंमेंसे छांट छांट कर कितनेक धार्म्मिक व्यक्तियोंको एक गुप्त आनुष्ठानिकश्रेणीभुक्त करके उनके द्वारा नियमित रूपसे इस जातिकी उन्नतिके अर्थ शास्त्रसिद्ध अनुष्ठान करना होगा। एकप्राण और एकमन होकर उन सब व्यक्तियोंके उस दैवकार्य्यको करने पर अवश्य सफलता होगी और यह भी शास्त्र तथा विज्ञान केअनुकूल है कि भारतवर्ष कर्म्म-भूमि होनेके कारण इसके अधिवासी गण यदि प्रमादनिद्राको छोड़ कर कर्म्मपरायण होंगे, तो उनकी सहायताके अर्थ, परोपकारव्रतधारी, जीवत्रितापहारी, सर्वलोक-हितकारी और परार्थहीके लिये अपने जीवनको धारण करनेवाले महात्माओंकी सहायता उनको अवश्य प्राप्त होगी। क्योंकि ऐसे साधु महात्मा गण जगदीश्वरके प्रतिनिधि ही हैं *।

* अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।

जगत्में किसी नवीन मनुष्यजातिको उत्पत्ति और अभ्युदय होना कुछ और बात है, और किसी प्राचीन जातिकी बिगड़ी हुई दशासे पुनरावृत्ति होकर उसका पुनरभ्युदय होना कुछ और ही बात है। प्राचीन-संस्काररहित किसी मनुष्य जातिकी क्रमोन्नति किसी कारणविशेषसे हो सक्ती है, परन्तु अनादिसिद्ध, प्राचीनसे अति प्राचीन संस्कारोंसे युक्त, अधःपतित आर्य्यजातिके पुनरभ्युत्थान करानेके अर्थ कुछ विशेष ही यत्नको आवश्यकता होगी। जिन जिन कारणोंसे वर्त्तमान कालमें युरोपीय जातियोंने उन्नति की है केवल उन्हीं कारणोंसे आर्य्यजातिका पुनरभ्युदय होना सम्भव नहीं है; केवल पश्चिमीय अनुकरणसे यह प्राचीन जाति उन्नत नहीं हो सकेगी। नवीन जातियों के लिये कोई विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं होती, जैसी देशकालकी दशा और पात्रोंकी

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥
निमज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं शिवम् ।
धर्म्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः ।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्तो ब्रह्मस्वरूपिणः ॥
विच्छिन्नपन्थयस्तज्ज्ञाः साधवः सर्वसम्मताः ।
सर्व्वोपायेन संसेव्यास्ते ह्युपाया भवाम्बुधौ ॥
इति पूज्यपादभगवान् वेदव्यासः

प्रकृति होती है, उसीके अनुसार सुकौशलपूर्ण नियम पर चलाते रहनेसे, नवीन जातियां उन्नतिपंथ पर अग्रसर होती रहती हैं। यूरोपीय जातिका कोई प्राचीन आदर्श नहीं है, उन जातियोंके अन्तःकरणको संस्कार-बद्ध करनेके अर्थ उनके सन्मुख कोई प्राचीन दृढ़ संस्कार उपस्थित नहीं थे; इसी कारण स्वतः ही अपने अपने ढंग पर वे जातियां आधिभौतिक उन्नतिको प्राप्त कर चुकी हैं। परन्तु आर्य्यजातिका पुनरभ्युदय और ही पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। यह अति प्राचीन जाति, अपने अति प्राचीन संस्कारोंसे इस प्रकार आबद्ध है, तथा सब मनुष्य जातिकी पितामहरूपी यह जाति, अपने एक अलौकिक धर्म्मसिद्धान्त और वैज्ञानिक भाव-समूहके तीव्र संस्कारोंसे ऐसी ओतप्रोत है कि उनके विना इस जातिकी स्थिति और उन्नति असम्भव है। यदि कोई मनुष्य किसी कारणसे गिर जाता है, तो वह जिस भूमिसे सम्बन्धयुक्त हो कर गिरता है, वह उठते समय उसी भूमिकी सहायतासे उठ सक्ता है; उसी प्रकार धर्म्मप्राण आर्य्यजातिका जो अनादिसिद्ध धर्म्म-सिद्धान्त उसके सब समय साथ है, उसी धर्म्मसंस्कार के अवलम्बनसे यह जाति पुनरभ्युत्थित हो सक्ती है। अन्यथा इसकी उन्नति होना सर्वथा असम्भव है।

पश्चिमी शिक्षासे विकृतमस्तिष्क पुरुषोंके ऐसे विचार प्रायः देखनेमें आते हैं कि वे इस जातिको धर्म्म-रहित करके उन्नत करना चाहते हैं और वे यह कहते हैं कि सनातनधर्म्मके नाना सम्प्रदाय और नाना पन्थ आदिके मतभेदने ही इस जातिको इस अधःपतित

दशामें पहुंचाया है; अतएव धर्म्मकी उपेक्षा विना किये यह जाति कदापि पुनरुन्नतिको नहीं प्राप्त कर सकेगी। ऐसे पुरुषोंका यह प्रमादयुक्त सिद्धान्त कैसा सर्वथा निन्दनीय, अकीर्ति कर, अदूरदर्शितापूर्ण और असत्य है सो पूर्वकथित अकाट्य युक्तियोंसे प्रमाणित हो चुका है। अपिच आर्य्यजातिमें धर्म्मगत मतपार्थक्यसे इस जाति को विशेष हानि नहीं पहुंच सक्ती। हां इसमें सन्देह नहीं कि अज्ञानके कारण मतपार्थक्यके अवलम्बनसे जो राग द्वेष उत्पन्न हुआ करता है, उससे बहुत कुछ हानि होती है। अस्तु, उस हानिका प्रधान कारण साम्प्रदायिक मतभेद नहीं है; किन्तु उसका प्रधान कारण घोर अमङ्गलकारी अज्ञान ही है। विद्याके प्रचार और नियमित उपदेशसे अज्ञान दूर होने पर सब सम्प्रदाय, सब धर्म्मपन्थ और सब धर्म्ममत, ऐक्यस्थापनपूर्वक, अपने अपने कर्तव्यों का साधन करते हुए, गन्तव्य पथ पर अग्रसर हो सक्ते हैं। इस समय युरोप और अमेरिकामें जितना धर्म्मसम्बन्धीय मतपार्थक्य है वैसा और कहीं भी नहीं है। पदार्थविद्या [सायन्स] की उन्नतिके साथ ही साथ ईसाईधर्म्मावलम्बी युरोपीय जातियोंके धर्मसिद्धान्तमें सम्पूर्ण मतभेद हो गया है। यदि ईसाईधर्म्मसिद्धान्तसे स्वतन्त्र हो कर, प्रथमतः अगणित ईसाई धर्म्मपन्थ बन गये हैं; और द्वितीयतः पदार्थविद्याकी कृपासे प्रायः शिक्षित प्रजा एकबार ही श्रद्धाहीन होकर मनमाने आचरण करने लगी है। वस्तुतः जो सज्जन युरोपीय समाजकी वर्त्तमान दशासे सम्पूर्ण परिचित हैं वे भलीभांति जानते हैं कि इस समय यदि

ऐसा कहा जाय कि युरोपीय शिक्षितसमाजमें जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्ममत हैं तो विशेष अत्युक्ति नहीं होगी। तौ भो उन जातियोंमें सङ्घशक्तिकी असाधारण उन्नति और उन जातियोंका असाधारण लौकिक अभ्युदय जो हो रहा है इससे यह सिद्धान्त हुआ कि धर्मसम्बन्धीय साम्प्रदायिक मतभेद किसी ज्ञानपक्षपातिनी मनुष्य जातिको हानि नहीं पहुंचा सक्ते। जिसप्रकार संगीतविद्यासम्बन्धीय किसी वाद्यागारमें बहुप्रकारके यन्त्र स्वरूपतः और शक्तितः स्वतंत्र स्वतंत्र होने पर भी जब वे एकलक्ष्ययुक्त होकर किसी एक राग अथवा रागिनीके बजानेमें तत्पर किये जाते हैं, तो उस समयका उनका समष्टिकार्य्य एकरूप हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानप्रचार और नियमबद्धता (Discipline) एवं अनुशासन व्यवस्था (Organisation) द्वारा अनेक धर्मसम्प्रदायोंमें विभक्त आर्य्यप्रजा एकरूप होकर, अपने धर्मके पुनरभ्युदयके अर्थ सफलकाम होगी, इसमें सन्देह ही नहीं। संगीतरसके रसिक सज्जनोंने यह प्रायः अनुभव किया होगा कि जब किसी समय नाना प्रकारके वाद्य यन्त्रोंको किसी एक स्वरविशेषमें मिलाकर रक्खा जाय, तो उस समय उन विभिन्न यन्त्रोंमेंसे किसी एक यन्त्रको बजानेसे सब यन्त्र ही सजीवके न्याईं उक्त स्वरोंका साथ देने लगते हैं। फलतः समग्र आर्य्यजातिको नियमबद्ध करके इस महायज्ञमें दीक्षित करनेसे सब वर्ण, सब आश्रम, सब सम्प्रदाय, सब पन्थ और सब अधिकारके व्यक्ति ही नियन्त्रित हो जांयगे, और वे सब एक-वाक्य

श्रौर एकप्राण होकर अभ्युदय श्रौर निःश्रेयसके श्रधिकारी होंगे; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

काल पितारूप है । पितृसेवाद्वारा जिस प्रकार पितृदेवकी प्रसन्नता प्राप्त करनेसे पुत्रको सब प्रकारके कल्याणके साथ ही साथ समग्र पैतृक विभूति प्राप्त हो जाया करती है, उसी प्रकार कालके अनुसार प्राकृतिक प्रवाहके अनुकूल चलने पर मनुष्योंको सब प्रकारका अभ्युदय प्राप्त हुआ करता है; श्रौर कालके विरुद्ध चलने पर, विपत्ति श्रौर विफलताका होना अवश्यसम्भावी है । अस्तु, आर्य्य जातिको भी अपने सदाचार अपने सद्भाव श्रौर अपने धर्म्मकी रक्षा करते हुए कालप्रवाहके अनुकूल आत्मोन्नति करना कर्त्तव्य है । अपने आर्य्यजातिभावको मुख्य रख कर श्रौर अन्य जातिका अनुकरण करना निन्दनीय समझ कर, केवल अन्यान्य जातियोंमें कालानुरूप जो जो अभ्युदयकारी गुण हैं उनका संग्रह करना नितान्त उचित है । ज्ञानवृद्धिके विचारसे जहां जो कुछ विद्यावृद्धिकारी शास्त्र अथवा उपदेश हों उनका यथायोग्य संग्रह करना सर्वथा हितकर होगा । विशेषतः इस वर्त्तमान कालप्रवाहमें बहते हुए पृथ्वीकी श्रौर श्रौर आधिभौतिकउन्नतिसम्पन्न जातियां जिस प्रकारसे अपने देश श्रौर अपनी जातिकी लौकिक उन्नति करनेमें समर्थ हुई हैं, उस प्रकारसे उनके गुणोंका संग्रह करके आर्य्यजातिको भी वर्त्तमानकालोपयोगी आधिभौतिक उन्नति करनेमें यथाशक्ति यत्न करना युक्तियुक्त होगा । सुतरां जिस किसी प्रकारका

लोक-हितकर शास्त्र अथवा ज्ञान हो, उसके संग्रह करनेमें आर्य्यजातिका पश्चात्पद होना कदापि उचित नहीं है ।

जिस प्रकार अन्य धर्म्ममतोंके नेतागण, पदार्थ-विद्या (साएन्स) आदिके ज्ञानकी वृद्धिसे भयभीत हुआ करते हैं, उस प्रकार सनातनधर्म्मके नेताओंको भयभीत होनेका कुछ भी कारण नहीं है। नवीन पाश्चात्य दर्शन और पदार्थ-विद्या आदिकी उन्नतिसे अन्यान्य धर्म्ममतों की भित्ति जिस प्रकार शिथिल हो गई हैं, और जिस प्रकार आज दिन उक्त शास्त्रोंकी क्रमोन्नतिकी ओर लक्ष्य डालते हुए अन्य धर्म्ममतोंके नेतागण दिन प्रतिदिन चिन्तासे जर्जरित होते जाते हैं; उस प्रकारकी दुर्बलता सनातनधर्म्मके नेताओंके हृदयमें उत्पन्न हो ही नहीं सक्ता। अध्यात्मविज्ञानरहित अन्य धर्म्ममतसमूहों का नवीन पाश्चात्य दर्शन और पदार्थ-विद्याओंके सन्मुख श्रीहीन होजाना सम्भव ही है; परन्तु अभ्रान्त-सिद्धान्तयुक्त वैदिक विज्ञान पर स्थित, और पूर्णज्ञान-युक्त वैदिक दर्शन शास्त्रोंके द्वारा सुदृढ़, सनातनधर्म्मके लिये वैसी चिन्ता करनेका कोई कारण ही नहीं है। वरन् जितनी ज्ञान-राज्यकी उन्नति होगी उतनी ही सनातनधर्म्मकी पुष्टि होती जायगी।

स्थूल पदार्थोंके सुकौशलपूर्ण संयोग-वियोगद्वारा आधिभौतिक-शक्ति उत्पन्न-करनेवाली पदार्थ-विद्या (Science) की गति, स्थूलराज्यसे लेकर सूक्ष्म मनोराज्यकी प्रथम सीमा तक है, और तत्पश्चात् सूक्ष्म दार्शनिक अधिकार प्रारम्भ होता है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत

इन त्रिविध भावोंसे पूर्ण सनातनधर्म्मविज्ञानकी गति तो स्थूलातिस्थूल विषयसे लेकर अन्तर्जगत्के ओर भी अनेक दूर तक है। वैदिक-दर्शनोंमेंसे उच्च अधिकारके दर्शनोंकी गति, प्रकृतिराज्यकी चरम सीमा तक है; उनके अधिकार यहां तक उन्नत हैं कि वे तत्त्वातीत परम तत्त्वके साक्षात्कार करानेमें सहायक होते हैं। अस्तु, क्रमशः जितना स्थूलपदार्थराज्यका ज्ञान, और जितना सूक्ष्म मनोराज्यका विज्ञान संसारमें प्रकाशित होगा, उतना ही सनातनधर्म्मावलम्बियोंके लिये आनन्दका कारण होगा। दूरदर्शी महापुरुषोंका यही सिद्धान्त है कि पृथ्वीकी अन्य जातियां क्रमोन्नतिप्रवाहके अनुसार, जितनी पदार्थ विद्या और दार्शनिक ज्ञानमें अधिकसे अधिक उन्नति प्राप्त करती जायँगी, उतना ही वे अध्यात्म ज्योतिको प्रथम दशामें अनुमान करती हुई, क्रमशः उसके साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो सकेंगी। और वे जातियां जितना आध्यात्मिक अधिकारमें अग्रसर होती जायँगी उतना ही सनातनधर्मके पितृभावका अनुभव करनेमें समर्थ होंगी। जितना वे जातियां विज्ञानालोकको प्राप्त करके सत्य पदार्थका अनुभव करती जायँगी, उतना ही वे समझ सकेंगी कि धर्म्मप्रवीण आर्य्यजाति ही धर्म्म-सम्बन्धसे जगद्गुरु है। अस्तु, इस विराट् धर्म्मसभाके नेताओंको अपनी कर्त्तव्य बुद्धि, सनातनधर्म्मके महत्त्व और सनातन धर्म्मके प्रकाशक पूज्यपाद सर्वलोकहितकारी महर्षियोंकी उदारताका पूर्ण विचार रख कर सावधान होकर पृथ्वी भरके सब धर्म्ममतोंके साथ स्नेह भावकी वृद्धि करना सर्वथा कर्त्तव्य है।

प्रायः कालवादी, प्रारब्धपक्षपाती और पुरुषार्थ-हीन व्यक्तिगण ऐसी शङ्काओंसे धर्म्मप्रेमियोंका हृदय निरुत्साहसे पूर्ण कर दिया करते हैं कि कालकी गतिके विरुद्ध कुछ भी पुरुषार्थ नहीं हो सक्ता; आर्य्य जातिका प्रारब्ध ही मन्द हो गया है, अतः इस समय सहस्र यत्न करने पर भी कुछ नहीं होगा और ऐसी घोर अधःपतित दशासे आर्य्यजातिको उठानेका यत्न सर्वथा निष्फल है। ऐसी शङ्काओंका कारण अज्ञान और प्रमाद ही है। शास्त्र-कारोंने कालको ईश्वररूप करके वर्णन किया है; काल के अन्तर्गत सृष्टि, स्थिति, लय क्रिया हुआ करती है, परन्तु काल सबसे अलग है; यह ब्रह्माण्ड कालसे परिच्छिन्न है, परन्तु अनादि अनन्त काल किसीसे भी परिच्छिन्न नहीं है। जिस प्रकार प्रकृतिका त्रिगुणविकार पुरुषमें प्रति-बिम्बित होता है, परन्तु वास्तवमें पुरुष उस त्रिगुणवि-कारसे सर्वथा निर्लिप्त है; उसी प्रकार एक कालविशेष में उत्पन्न हुए जीव समष्टिके कर्म्मोंके द्वारा ही कालका स्वरूप भासमान होने लगता है, नहीं तो यथार्थमें काल निर्लिप्त और निर्विकार है। अतएव मनुष्यसमष्टिके प्रबल पुरुषार्थ द्वारा भासमान कालधर्म्मका यथासम्भव परि-वर्त्तन होना विज्ञानविरुद्ध नहीं है।

प्रारब्धवादियोंको यही अकाट्य उत्तर दिया जा सकता है कि जीवका प्रारब्ध और कुछ नहीं है, केवल उसके पूर्वपुरुषार्थोंसे ही बना है। अस्तु प्रबल पुरुषार्थद्वारा प्रारब्धका निराकरण होना असम्भव नहीं है और जो लोग आर्य्यजातिकी इस घोर तमसाच्छन्न दशाको देखकर

पश्चात्पद होते हैं, उनका निरुत्साह होना कारणरहित नहीं है, परन्तु ईश्वर-भक्त कर्म्मवादी आर्य्यजातिको किसी दशामें भी आत्मोन्नतिमें निरुत्साह होना शोभा नहीं देता। जब यह निश्चय ही है कि जीवसमूहके कर्म-समष्टिसे ही कालधर्म्मकी उत्पत्ति होती है और यह भी निश्चय ही है कि शुभ और अशुभ कालका परिवर्त्तन भी जीव समूहके अशुभ और शुभ कर्म्मसमष्टि द्वारा ही हुआ करता है, तब पुनः सत्पुरुषार्थमें अरुचि करना सर्वथा निन्दनीय और विचारविरुद्ध है। सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की अपार कृपा पर विश्वास रख कर स्थिरबुद्धि होते हुए सत् पुरुषार्थमें प्रवृत्त होनेसे सफलताकी सम्भावना है।

कर्मका फल अवश्यसम्भावी है। कैसा ही क्षुद्र से अति क्षुद्र कर्म किया जाय, कालान्तरमें उससे फलोदय होना सर्वथा विज्ञानसिद्ध है। अतः आर्य्यजातिको विफलताकी सम्भावना ही नहीं; इस समय हो, अथवा समयान्तरमें हो, उनके समष्टिकर्मका फल अवश्य उनको प्राप्त होगा। जिस प्रकार समुद्रके एक एक विन्दुसे ही समुद्रकी सृष्टि हुई है, उसी प्रकार प्रत्येक आर्य्यसन्तानके एक एक सत् कर्म्मके द्वारा संग्रहीत होकर, समष्टिरूपसे भविष्यत् उत्तम कालकी उत्पत्ति होगी। वस्तुतः यदि कोई आर्य्यसन्तान किसी समय एकवार भी केवल मनसे ही अपनी जातिके कल्याणकी चिन्ता करेगा, तो उसका वह मानसिक कर्म्म भी भारतके भविष्यत् उत्तम कालकी उत्पत्तिका कारण होगा। अस्तु, यदि सब आर्य्य-

सन्तान श्रीगीतोपनिषद्‌में प्रकाशित कर्म्मयोग विज्ञानका अनुभव करनेमें यत्न करेंगे, यदि सब भारतवासी पूज्यपाद श्रीभगवान् वेदव्यासजीकी आज्ञा और इस महायज्ञके रहस्यको समझ कर अपनी सङ्घशक्तिको बढ़ाते हुए धर्म्मोन्नति करमें समर्थ होंगे, यदि सब वर्णाश्रमधर्मी अपने अधिकारभेदको समझते हुए सबसे प्रेम स्थापन करनेमें अग्रसर होंगे, यदि सब आर्य्यगण यह समझने लगेंगे कि स्वार्थपरता और अज्ञान ही उनके अधःपतनका कारण है, और यदि सब आर्य्यसन्तान प्रतिदिन सर्व्वशक्तिधारी जगदीश्वरके चरणोंमें अपनी जातिके पुनरभ्युदय और धर्म्मोन्नतिके लिये प्रार्थना करते हुए अपनी अपनी शक्तिके अनुसार इस महायज्ञके साधन करनेमें प्रवृत्त होंगे तो सब प्रकारका कल्याण होना अवश्यसम्भावी है। इस महायज्ञका सबसे छोटेसे छोटा अङ्ग यह है कि यदि किसी आर्य्यसन्तानसे कुछ न बने तो उसको प्रतिदिन एक बार जीवत्रितापहारी, भक्तमनोमन्दिरविहारी, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के समीप सच्चे हृदयसे आर्य्य जातिके कल्याणार्थ प्रार्थना करना तो उचित ही है।

प्रार्थना।

हे सच्चिदानन्द ब्रह्म! तुममें और मुझमें, अभेद होने पर भी, हे हृदयनाथ! मैं तो तुम्हारा ही हूं; कारण यह है कि, हे जगदात्मन्! तरङ्ग तो समुद्रका ही हुआ करता है। हे करुणामय जगद्‌गुरो! मैं अल्पदर्शी जीव हूं, परन्तु तुम सर्व-

दर्शी पूर्णज्ञानमय शिव हो। हे कृपासिन्धो! मेरी क्षुद्र बुद्धिको प्रेरणा करके मेरे अन्तःकरणमें यथार्थ ज्ञानालोक प्रकाशित कर दो। हे सर्वनरनारी-समष्टिरूप विश्वमूर्त्ते! हे विराट् पुरुष! तुम प्राणि-मात्र पर ऐसी कृपा करो कि, ये तुम्हारे अंश-समूह विपथगामी न होकर, तुम्हारे आत्मस्वरूपके परमानन्दका अनुभव करते हुए तुम्हारी ओर ही अग्रसर होवें। हे महादेवीआलिङ्गित महादेव! तुममें ही यह विश्व संसार उत्पन्न हो रहा है, पुनः वह कालग्रस्त होकर तुममें ही लयको प्राप्त हुआ करता है, तुम ही जगत्के पिता और माता-रूप हो। हे सर्वलोकपितामह! महाप्रलयके अवसानमें तुम ही रजोगुणमय होकर अनन्त वैचि-त्र्य पूर्ण यह अनन्त सृष्टि उत्पन्न किया करते हो। हे विष्णो! तुम सर्वदा सत्त्वगुणमय होकर इस अघ-टनघटनापटीयसी सृष्टिलीलाकी रक्षा किया करते हो। हे महारुद्र! तुम तमोगुणमय होकर इस अनन्त-शोभापूर्ण सृष्टिप्रवाहका लय किया करते हो। हे जीव-त्रितापहारिन्! जीवोंके हृदयका अविनय दूर करो, मन दमन करो, असत् वासनासे उनके अन्तःकरणको फेर कर सत्के अनुगामी करदो, जिस

से वे परस्परके द्वेषभावको भूल कर भ्रातृभावसे परस्परमें मिल, तुम्हारी अनन्त महिमा कीर्तन करनेमें प्रवृत्त होसकें। हे जगत्पिता! अपने सर्वज्येष्ठ पुत्रगणकी ओर एक बार कृपा दृष्टि करो; यद्यपि यह आर्य्य जाति अपने ही असत् कर्मोंके दोषसे अधःपतित होगई है, परन्तु तुम्हारे पतितपावन नामकी सार्थकता करनेके योग्य समय इससे सिवाय और कब उदय होगा? हे धर्म्मराज! एक दिन जो आर्य्यजाति जगद्गुरु और विश्वविजयिनी थी वही जाति आज प्रमादनिद्रामें निद्रित और जगत् के निकट भिखारी हो रही है। हे करुणासिन्धो! इससे और अधिक का दण्ड हो सक्ता है कि अब भी इनके असद् भोगोंका अन्त नहीं होता। हे जगदीश्वर! स्वभावसे ही अहङ्कारी जीवोंकी स्वाभाविकगति तो असत्की ओर ही हुआ करती है, किन्तु हे पतितपावन! तुम ही उनके एकमात्र उद्धारकर्ता हो, सो मैं तुम्हें स्मरण करता हूं। हे ज्ञानमूर्त्ते! ऐसा कृपादृष्टिपात करो कि जिससे इन मोहनिद्रासे निद्रित आर्य्यसन्तानोंके अन्धकारपूर्ण हृदयमें ज्ञान-ज्योतिका विकाश होने लगे। हे ज्ञानात्मन्! सब भूतोंमें अविभक्तरूप विकार-

हीन, सार्वभौमदृष्टिसम्पन्न, आध्यात्मिक उन्नति-
कारी जो सात्त्विक ज्ञान है, आर्य्य प्रजाके-हृदय
में उसका विकाश कर दो। हे भक्तमनोमन्दिर-
विहारिन्! अपने चिरभक्त आर्यसन्तानोंके हृदय
का द्वार खोलकर उनको अपनी ऐसी मनोहर मूर्त्ति
के दर्शन कराओ जिससे हे हृषीकेश! वे पुनः
तुम्हें भूल कर स्वार्थपर और इंद्रियलोलुप न हो
सकें। हे यज्ञेश्वर! प्रमाद और आलस्यके कारण
ही तुम्हारी महिमाको आर्य्यसन्तान भूल रहे हैं;
परन्तु हे जगत् प्राण! उसके पूर्वजगण तुम्हारे
परम भक्त थे, और यह पवित्र भारतभूमि ही कर्म-
भूमि कहाती है, अब ऐसी कृपा करो जिससे
तमोग्रस्त आर्य्यसन्तान पुनः सचेष्ट होकर कर्म
की अपार शक्ति को समझ सकें। हे तपोमूर्त्ते!
तुम्हारी महिमाको भूलनेसे ही भारतवासियोंकी यह
दुर्गति हुई है, ऐसी करुणा करो जिससे वे द्वंद्व-
सहिष्णु होकर निष्कामव्रतपरायण हों। हे दान-
मूर्त्ते! यद्यपि आर्य्यसन्तानगण अब भी प्रकृतिसे
ही तुम्हारी सेवा करनेमें तत्पर हैं, परन्तु वे तुम्हारे
यथार्थ स्वरूपको भूल रहे हैं; हे कलिकल्मष नाशन!
ऐसी प्रेरणा करो जिससे वे सात्त्विकदान की

महिमा समझ कर आत्मोद्धार करनेमें समर्थ हो सकें। हे महाकाल ! तुम ही सृष्टि स्थिति लयके द्रष्टा और चारों युगोंके कर्त्ता हो, प्रत्येक युगमें तुम्हारी ही कृपासे अन्य युगोंका अन्तर्भाव भी समय समय पर हुआ करता है; हे जगत्पिता ! इस समय ऐसी कृपा करो कि वर्त्तमान काल सत्त्वगुणसम्पन्न होजाय। हे आर्य्यकुलजननी भारतमाता ! कुपुत्र होना तो सदा सर्वदा ही सम्भव है, परन्तु कुमाता का होना कभी नहीं सुना गया है, हे जननी ! इन मन्दमति बालकों पर स्नेहप्रकाशद्वारा इनको इस प्रकारके शासनसे शासित करो कि ये अपने कर्त्तव्यको समझ कर तुम्हारी सेवामें रत हो सकें। हे सत्यस्वरूप ! तुम्हारी कृपासे ही अग्रजन्मा ब्राह्मणगण निः-श्रेयसको प्राप्त करते आये हैं, तुम्हारी ही शक्तिसे वे व्यवहारदशामें रहते हुए भी, प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण करते हुए भी, मोक्षप्रद धर्म्मकी ही वृद्धि करते आये हैं; प्रारब्धवश अब वे तुम्हारे जगत्कल्याणकारी स्वरूपको भूल गये हैं सो उनको दिखा कर कृतकृत्य करो। हे तेजोरूप ! अधः पतित, चञ्चलमति भारतवासी अब शौर्य्य, वीर्य्य, पुरुषार्थ और तेजस्विता आदि गुणावलीको भूल

कर आलसी और निस्तेज होगये हैं; जिस ज्ञानपूर्ण
धृति द्वारा मन प्राण और इन्द्रियोंकी क्रिया निय
वद्ध होती है और जो धैर्य्यशक्ति मृत्युको सन्मुख
देख कर भी अव्यभिचारिणी ही रहती है, ऐस
धृतिकी उत्पत्ति करके इस आर्य जातिमें क्षात्र ते
का आविर्भाव कर दो। हे। विष्णुप्रिये महालक्ष्मि
तुम्हारी अकृपा होनेसे ही यह धर्म्मप्राण आर्य
जाति धनधान्यहीन, वलहीन और श्रीहीन ह
गई है, स्नेहमयी मातः! तुम्हारी सदासे कृपापात्र
इस जाति पर पुनः ऐसी कृपादृष्टि करो कि इ
समयके उपयोगी वैश्य धर्म्मकी उन्नति होकर य
भारतवर्ष पुनः तुम्हारी लीला भूमि होसके।
विश्वकर्म्मन्! जिस दिनसे शूद्रधर्म्मावलम्बिग
अपने सेवाधर्म्म और शिल्पविद्यासे च्युत हुए
उसी दिनसे आर्य्य जातिका अधःपतन हुआ
हे शिल्पराज! त्रितापतापित भारतवासियों प
ऐसी कृपादृष्टि करो कि जिससे शिल्पोन्नतिद्वा
भारतवासिगण तुम्हारी अतुलनीय महिमा कीर्त
करनेमें समर्थ होवें। हे धर्म्मस्वरूप! तुम स
जीवोंको यथायोग्य अधिकार पर चलाकर उनं
उनके स्वतंत्र स्वतंत्र धर्म्माधिकारके अनुसार फ

दान किया करते हो; हे सर्वधर्म्माश्रय विभो! आर्य्य सन्तानोंके हृदयके सङ्कोच भावको दूर करके अपने सार्वभौम और सर्वलोक-हितकर मङ्गलमय स्वरूप का दर्शन उनको कराओ। हे योगेश्वर! तुम योगयुक्त होकर अनन्त वैचित्र्यपूर्ण सृष्टिलीलाप्रवाह को प्रवाहित करते हो और पुनः तुम्ही योगयुक्त होकर उस प्रवाहका संहार करते हुए सृष्टिको अपनेमें लय किया करते हो; सुकौशलपूर्ण कर्मका नाम योग है। हे योगेश्वर! ऐसी कृपा करो कि जिससे तुम्हारे मुखपद्मविनिःसृत श्रीगीतोपनिषद्कथित कर्म्मयोगविज्ञानका विकाश आर्य्यसन्तानों के हृदय पर होने लगे। हे प्रभो! सब कार्य्योंमें अकुण्ठ, सदा धर्म्मकार्य्यमें समुद्यत, साक्षात् वैकुण्ठरूपी जो तुम्हारी कार्य्यात्मिका शक्ति है उसीकी सहायतासे तुम्हारे आज्ञाधीन होकर इस महा-यज्ञ की स्थापना हुई है; हे नाथ! इस महा-यज्ञका दिन प्रतिदिन सम्वर्द्धन करते हुए इसकी पूर्णता द्वारा सबलोकोंका कल्याण करो, यही प्रार्थना है; हे परात्मन्! तुम्हारी कृपा प्राप्तिके लिये तुम्हारा

ओंतत्सत् मंत्र उच्चारण करके तुम्हारे चरणकमलों में वार वार प्रणाम करता हूं ।

ओं शान्तिःशान्तिः ओं ।

इति सप्तमोऽध्यायः ।

इति श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलरहस्यं समाप्तम् ।

सभाओं और विद्यालयोंके लिये विशेष सुविधा ।

ब्राह्मणसभा, क्षत्रियसभा, वैश्यसभा आदि जितने प्रकारकी सामाजिक सभाएं हैं और जहां जहां संस्कृत पाठशाला 'विद्यालय' हिन्दूपुस्तकालय और हिन्दूकन्यापाठशालाएं हैं वे अपना पता भेजकर रजिस्टरमें नाम दर्ज करावें। श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके नये नियमोंके अनुसार ऐसी सब सामाजिक तथा विद्योन्नतिकारिणी साहित्यसभाएँ व अन्यान्य हिन्दूसंस्थाएँ जो जिस भाषाका मासिकपत्र चाहेंगी उनको विना मूल्य दिया जायगा। पत्र भेजनेका पता–

प्रधानाध्यक्ष

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय बनारस (शहर)।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल ।

सनातनधर्म्मके अभ्युदय और सद्विद्याविस्तारके लिये समग्र हिन्दूजातिकी अद्वितीय विराट् धर्म्मसभा श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल है। धर्माचार्य्य, स्वाधीन नरपति, राजा, महाराजा, जमींदार सेठ, साहूकार, अध्यापक ब्राह्मण, सर्वसाधारण हिन्दूप्रजा, गृहस्थ स्त्री पुरुष और साधु संन्यासी अर्थात् सब हिन्दूमात्र इस विराट् धर्म्म-सभाके सब श्रेणीके सभ्य हैं और होसक्ते हैं और जो जिस भाषाका मासिकपत्र चाहते हैं उनको उसी भाषाका मासिकपत्र विनामूल्य दिया जाता है। हिन्दूमात्रको सभ्य होना उचित है।

पत्र भेजनेका पता प्रधानाध्यक्ष

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधानकार्य्यालय बनारस (शहर)

श्रीविश्वनाथअन्नपूर्णादानभाण्डार ।

श्रीकाशीपुरी पुण्यधाममें तथा अन्यान्य स्थानोंमें अनाथ, दीन दुःखी स्त्री पुरुष बालक बालिकाओंको अन्नवस्त्रदान, निराश्रित संस्कृतके विद्वान् और विद्यार्थियोंको सहायता तथा सकल प्रकारके सात्त्विक दानके लिये यह सभा स्थापित हुई है। गवर्नमेन्टके कानूनके अनुसार इसका रजिस्टरी कराई गई है। जो सज्जन धार्मिक स्त्री पुरुष इस महातीर्थमें सात्त्विक दान करना चाहें वे इस सभाकी नियमावली मँगावें और सहायता निम्नलिखित पतेपर भेजें।

सैक्रेटरी श्रीविश्वनाथअन्नपूर्णादानभाण्डार

श्रीमहामण्डल प्रधानकार्य्यालय बनारस (शहर)